और जैनों के निरीश्वरवादी प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में विविधविधानयुक्त वैष्णवमार्गीय पंचरात्र धर्म का विकास हुआ। पंचरात्र धर्म का मूल महाभारत में होते हुए भी यह धर्म ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के लगभग अपनी पूर्ण शक्ति के साथ संगठित हो कर प्रचलित था। भगवद्गीता महाभारत का अंग होते हुए भी उसमें भक्ति का स्वतंत्र स्थान दृष्टिगोचर होता है। साम्प्रदायिक भक्तिमार्गों के प्रवर्तन के पूर्व गीता और पुराण साहित्य ही कृष्ण-भक्ति के आधार स्तंभ समझे जाते थे।

प्राचीनतर वेदकाल में ईश-तत्त्व के प्रति हृदय की कोमल वृत्तियों के विकास में सामगानादि संगीतमय ऋचाएं रची जा चुकी थीं। पश्चात् ब्राह्मण और उपनिषद् काल में संगीतवृत्ति और भक्तिवृत्ति के समन्वय का बीजारोपण हुआ। क्रमश: अस्फुट भक्तिवृत्ति स्फुट होती रही, साथ ही सामगान का संगीत भी विकसित होकर सामाजिक, धार्मिक कार्यों में सहभागी होने लगा। परवर्ती युग में महाभारत, गीता और पुराणों के समय भक्ति-बीज में से वृक्ष का दर्शन होने लगा और भक्ति अंग के साथ संगीत भी स्पष्ट होता रहा।

कुछ विद्वान् प्राचीन संगीत की दृष्टि से मुख्य तीन परंपराएँ फलित होना मानते है। इन तीनों परंपराओं में हम वैदिक काल की संगीतबद्ध ऋचाओं, उनका उपासनामय भक्ति-तत्त्व तत्पश्चात् ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रकाल एवं महाभारत, गीता, रामायण तथा भागवतादि पुराणों के उद्धरणों से संगीत और भक्ति-तत्त्व की संक्षेप में चर्चा कर चुके हैं। आगम परंपरा में संगीत के आदिकर्ता देवाधिदेव महादेव को माना गया है। कहा जाता है कि शिव-पार्वती के संवाद रूप में ३६००० श्लोकों का एक गान्धर्व नामक ग्रन्थ (वेद) प्रचलित था। यद्यपि यह ग्रंथ अप्राप्य है तथापि इनकी विषय-सूची यामलाष्टक नामक ग्रन्थ में दी गई है। इन परंपरा के ग्रन्थों में नंदिकेश्वर कृत 'नंदिकेश्वर संहिता' ग्रन्थ भी आज प्राप्त नहीं है। परन्तु कहा जाता है कि संगीतरत्नाकार के टीकाकार सिंहभूपाल ने (ई. स. १५००) उनमें से कुछ श्लोकों के उद्धरण दिये हैं।

ऋषिकृत संहिता परंपरा में 'काश्यपीयम्' ग्रन्थ भी मुख्य माना जाता है। उनके भी कुछ उद्धरण परवर्ती कतिपय ग्रन्थों में होने का अनुमान है, परन्तु 'काश्यपीयम्' भी आज उपलब्ध नहीं है। तदतिरिक्त शैव और वैष्णव आगम ग्रन्थों में शिल्प तथा नाट्यादि विषयों के साथ संगीत विषय के विचारों का महत्वपूर्ण उल्लेख है।

कुछ विद्वानों का मत है कि ईसा की शती के आरंभ के आसपास वर्षों तक वैष्णव भक्ति प्रवाह मन्द-मन्द बहता रहा था। साथ में संगीतादि कक्षाएँ भी संकुचित दशा में दिखाई देने लगी थी। ईसा की चतुर्थ शताब्दी में प्राय: गुप्तों

के राज्य काल पश्चात् भागवतधर्म की भक्ति एवं संगीतादि कलाओं को सिंचन और बल प्राप्त होने पर पूर्ववत् प्रचार होने लगा।

बौद्ध और जैन वाङ्मय में संगीत

बौद्ध वाङमय में संगीत--

इस ग्रन्थ में पूर्व प्राचीन काल की अवधि वेदकाल से लेकर ईसा की शताब्दी के आरंभ के पूर्व तक मानी गयी है। बौद्ध और पाली ग्रन्थों का समय ईसा के ३०० वर्ष पूर्व का है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रथम बौद्ध तत्पश्चात् जैन ग्रन्थों से प्राप्त संगीत विषयक विवरण पर विचार किया जाएगा।

जातकों के एक प्रसंग में कहा गया है कि-'गुत्तिल' नामक बोधि सत्व उत्तम गायक था और काशी के राजा ब्रह्मदत्त का नौकर था। उनके पास उज्जयिनी का मुशिल नामक गायक विशेष ज्ञान की जिज्ञासा से आया। उसने उत्तमज्ञान प्राप्त किया। राजा ने दोनों की स्पर्धा का निश्चय किया। गुत्तिल वृद्ध था। उसे अपनी विजय में शंका उत्पन्न हुई और वह इन्द्र की स्तुति के लिए जंगल में गया। इन्द्र ने प्रसन्न होकर वर दिया कि 'स्पर्धा में वीणा का एक तार टूट जाने पर भी वीणा बजती रहेगी।', । गुत्तिल ने स्पर्धा में शिष्य को जीत लिया। इस प्रसंग में 'सप्त तंत्री' वीणा के उल्लेख से उस समय सात तारों की वीणा का भी प्रचार रहा होगा, यह अनुमान होता है।*

'महावग्ग विनय पिटक' में एक प्रसंग में बुद्ध अपने शिष्य सोम को उपदेश देते हैं। इस प्रसंग में वीणा का उल्लेख प्राप्त होता है:--

'एवं भद्दं तवाति खो पंचसिखो गंधव्वपुतो सक्कस्स देवानाभिदंस्स पटिस्तु त्वा बेलुवपण्डुवीणं आदाय एकमंतं ठितो खो पंचसिखो गंधव्वपुत्तो वेलुवपण्डुवीणं अस्सा वेसि''**

उपर्युक्त उल्लेख में 'पंचसिख' गांधर्व पुत्र हाथ में' पण्डुवीणा' लेकर इन्द्र की स्तुति करता है। तथा वेलुव यानी बीली के फल की बनी हुई वीणा के तुंबे बीली फल के कोठा के बने हुए दिखाई देते हैं।

स्वयं बुद्ध संगीत विद्या में कुशल थे और 'वीणा' भी बजाते थे।***

ईसा के १०० वर्ष पूर्व ग्रीक राजा मिलिंद विद्वान्, गायक और कलाओं का भी मर्मज्ञ था। बौद्ध भिक्षुक के साथ उस के संवाद में वीणा एवं वीणा के अंग-

---

* *जातक का अंग्रेजी अनुवाद भाग-२ गुत्तिल जातक पृ-१७२।१७६*

** *दीघनिकाय। पाली टेस्ट सोसायटी, वा. २, पृ.-२६४।*

****ललित विस्तर-पृ. १५६*

प्रत्यंग के नाम (घोड़ी, चमड़ा, चोकठा, तवकडी, खूंटी, तार, गज इत्यादि) भी प्राप्त होते हैं।[‡] यह संवाद सिन्धु नदी के आसपास के प्रदेश में हुआ होगा।[‡‡]

बौद्ध धर्म की विधियों में संगीत का स्थान था। बौद्धमंदिरों में गायी जाने वाली स्तुतियाँ संगीतमय थीं। गायन-वादन-नर्तन का प्रचार भी था। केवल मनोविकार उद्दीपन करने वाले अश्लील संगीत से अलिप्त रहने की गौतमबुद्ध ने आज्ञा की है।[‡‡‡]

बौद्ध धर्म में 'सद्धर्मपुंडरिक' ग्रन्थ प्राचीन माना जाता है। इस ग्रन्थ में "पहिले के दस कल्प में धर्म विधि प्रसंग में विविध प्रकार के वाद्य जैसे शंख, ढोल, वीणा, तंबूर, वेणु, बंसरी इत्यादि नाम मिलते हैं।[†]

लंकावतार सूत्र में एक विधान है कि "राक्षसों के राजा रावण ने पुष्पक विमान में बैठे हुए भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् 'इन्द्रनीलमय' दंड से बजता हुआ 'तूर्य' वाद्य को षड्ज, गांधार, धैवत, निषाद, मध्यम और कौशिक इत्यादि स्वरों में ग्राम, मूर्च्छनादि सहित मिलाकर उस वाद्य की सुरावली के साथ अपना स्वर मिलाकर गाथा और गीत को गाने लगा।[††] उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट होता है कि प्राचीन बौद्ध-वाङमय के समय में ग्राम-रागों का प्रचार था।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भत्ति (भक्ति) शब्द का उल्लेख मिलता है। गुत्तिल द्वारा की हुई इन्द्र की स्तुति, अश्वघोष गायक द्वारा रचित स्तुतियां, पंचशिख नामक गान्धर्व पुत्र के द्वारा वीणा के साथ की हुई इन्द्र की स्तुति तथा बौद्धमंदिरों में स्तुतियों के गायन आदि का जो अभी हम विचार कर चुके हैं, उससे देव के प्रति हृदय की आर्द्र-भावना और वृत्ति के गर्भ में भक्ति की स्फुरणा दिखाई देती है।

विद्वानों का मन्तव्य है कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा पर भक्तिमार्गीय गीता का स्पष्ट प्रभाव है। हिंसामय यज्ञ की उपेक्षा, नीति, मनोनिग्रह, प्राणिमात्र पर दया-प्रीति इत्यादि बौद्ध और जैन मार्ग के उच्च तत्त्वों का गीता में समावेश है।[†††]

[‡] *Questions of King Milinda.* 84.

[‡‡] *Hindu India—P.* 100

[‡‡‡] *Dialogues of Buddha Part—PP* 6 *of Brahmjala Sutta*

[†] *सद्धर्मपुंडरिक का भाषान्तर*
(*Secred Books of East Vol. XXI. PP*, 51)

[††] *'लंकावतार सूत्रम्–पृ.३*

[†††] *'वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास–पृ.३१*

सज्जं खई भुअंगो, गामुही सिसंह सरे ।
संखो खइ गंधारं, मज्झिमं पुण्ण झल्लरी ।।६।।

चउसरणपइठ्ठाणा, गीहिआ पंचमं सरं ।
आडंबरो रेवइयं महाभेरी अ सत्तमं सरं. ।।७।।

भावार्थ——षड्ज स्वर मृदंग से, गोमुखी से ऋषभ, शंख से गंधार, झालरि से मध्यम, चार पांव बाला गोधा (चर्मवाद्य) से पंचम, आडंबर से धैवत और विषाद स्वर बड़ी 'भेरि' से निकलता है।

पश्चात् ८ से १४ वीं तुक तक स्वर के परिणाम–लक्षणों के उल्लेख* के बाद सात स्वरों के तीन ग्राम और मूर्च्छनाओं का उल्लेख भी इस प्रकार प्राप्त होता है। सत्तण्हं सरागं तओ गामा पणत्ता–सात स्वरों में तीन ग्राम होते हैं । सज्ज गामे (षड्ग्राम), मज्झिम गामे (मध्यमग्राम) और गंधार गामे (गंधारग्राम) ।

सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पणत्ताओ–षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनायें हैं:——

१ मग्गी, २ कोरविआ, ३ हरिया, ४ रयणी, ५ सारकंता, ६ सारसी, ७ सुद्धसज्जा।

मध्यम ग्राम की सात मूर्च्छनाओं का उल्लेख इस प्रकार है:——

१ उत्तरमंद्रा, २ रयणी, ३ उत्तरा, ४ उत्तरासमा ५ समोक्कंता, ६ सोवीरा और ७ अभिरुवा ।

गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम इस प्रकार बताये हैं——

१ नन्दी, २ खड्डिया, ३ पूरिमा, ४ सुदधगंधारा, ५ उत्तर-गंधारा, ६ उत्तरभाया, ७ उत्तराययाकोडिमा ।।१९।।

१. स्थानांग सूत्र के उपर्युक्त उल्लेखों में सात स्वरों के नाम में कोई भेद नहीं है।

---

* हमारी दृष्टि से यह अत्र अनुपयोगी होने के उदाहरण रूप में केवल एक तुक का उल्लेख करते हैं जैसे——

'सज्जेण लहई वित्ति कयं च सर्वाणस्सह।
गावो पुत्ता च मित्ता च नारीणं होई वल्लहो ।।८।।

'षड्ज' से धन प्राप्त होता है, कार्य सफल होता है और गाय, पुत्र, मित्र एवं स्त्री को प्रिय होता है। इस प्रकार सातों स्वरों का फल-कहा गया है।

२. जीवाश्रित स्वरोच्चारण में ऋषभ, गांधार, मध्यम, और धैवत स्वर के उच्चारण कर्ताओं के नामों में भेद है, षड्ज और निषाद के लिये संगीत के अन्य ग्रन्थों से भेद नहीं है।

३. अजीव आश्रित (वाद्यों से उत्पन्न होने वाले) स्वर तत्कालीन वाद्यों से उत्पन्न होने वाले स्वरों का स्थायी नाद किस प्रकार का था यह जानकारी अन्य संगीत शास्त्र के ग्रन्थों में बहुत कम होगी। केवल 'आडंबर' और 'जोधा ये दोनों वाद्य वेदकालीन थे। इन दोनों वाद्यों का प्रचार उस समय व्यवहार में होने का संकेत मिलता है।

४. ग्राम नामों में भेद नहीं है किन्तु मूर्च्छनाओं के कुछ नामों में भिन्नता दिखाई देती है।

५. स्थानांग सूत्र के श्लोक ८ से १४ तक का वर्णन अन्य किसी प्राचीन-संगीत के ग्रन्थों में दिखाई देता नहीं है। अनुमानतः उस समय के किसी संगीत शास्त्र ग्रन्थ से यह उल्लेख प्राप्त हुआ हो, जो बाद में अप्राप्य हो चुका हो।

६. स्थानांग सूत्र में संगीत के गुण दोषों का भी वर्णन किया है।

७. अनुयोगद्वार सूत्र में दिया हुआ संगीत विषयक विवेचन स्थानांग सूत्र के सदृश होने के कारण उस पर अलग विचार किया गया नहीं है।

'नन्दी-सूत्र' में निम्न १२ प्रकार के वाद्यों का नामोल्लेख प्राप्त होता है:—

१भंभा, २ मुकुंद, ३ मद्दल, ४ कडव, ५ झल्लरी, ६ हुडुवक, ७ कंसाला, ८ काहल, ९ तालिमा, १० वन्सो (संबंसी) ११ शंख, १२ पणव।

'अभिधानराजेन्द्र' नामक जैन कोष में 'आडज्जआनौद्य' शीर्षक के नीचे निम्न वाद्यों का उल्लेख किया है—

१ पणवं, २ पटह, ३ भम्भा, ४ होरम्भा, ५ भेरी, ६ झल्लरी, ७ दुन्दुभी, ८ मुरज, ९ मृदंग, १० नन्दीमृदंग, ११ आलिंग, १२ कस्तुम्ब, १३ गोमुखी, १४ मर्दल, १५ विपंची, १६ वल्लकी, १७ भ्रमरी–भ्रामरी, १८ परिवाहिनी, १९ चर्चसा, २० सुघोषा, २१ नन्दीघोषा, २२ महती, २३ कच्छपी, २४ चित्रवीणा, २५ आमोद, २६ मएमा, २७ मकुल, २८ तूण, २९ तुम्ववीणा, ३० मुकुन्द ३१ हुडुबकं, ३२ विचिकी, ३३ करटी, ३४ मिम्मिण, ३५ किणित, ३६ कण्डा, ३७ दर्दरक–दर्दरिका, ३८ कुसंबर, ३९ कलशिका, ४० तल-ताल, ४१ कास्यताल, ४२ रिगिसिका, ४३ मंगरिका, ४४ शुशुमरिका, ४५ वंश, ४६ वाली, ४७ वेणु, ४८ परिली, ४९ बद्धका:, ५० परशिता।

उपर्युक्त वाद्य नामों में बहुशः 'संगीत रत्नाकर' आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं तथापि कुछ नवीन प्रकार के नाम भी दिखाई देते हैं।

इस प्रकार जैन वाङमय तथा जैन आगमों के समय में संगीत विषयक एक निश्चित पद्धति का प्रचार हुआ। वैदिक काल की संगीत परंपरा भी विस्तृत हो चुकी थी।

तामिल ग्रन्थ सिलाप्पदिकरम्

ईसा की प्रथम शताब्दी के तामिल चर देश के राजा सेंगुत्तुवन के अनुज इलंकोवदिगल ने इस ग्रन्थ की रचना की जिस पर अद्यर्कुनलरे में टीका और जायनकोन्दन कवि चक्रवर्ती ने एक टिप्पणी लिखी है। ये टीका और टिप्पणी ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखित मानी जाती हैं। क्योंक ई. स. ३०० लगभग के एक बौद्ध नाटक में सिलाप्पदिकरम् का उल्लेख प्राप्त होता है। उपरान्त थाल-वीणा, अवनद्ध और सुषिर वाद्यों के बजाने का वर्णन किया गया है। तत्कालीन प्रचलित गान के कुछ उल्लेखों के अतिरिक्त सात स्वरों के नाम भिन्न भाषा में निम्न प्रकार प्राप्त होते हैं। (१) कुरल (सा), (२) थुथ्थम् (रे) (३) काइकिलाइ (ग) ४ उल.ई (म), ५ ली (प), ६ विल.री (ध) ७ थारम् (नि), तदुपरान्त थाटम् (थाट) इसाई (संगीत), ईयल (काव्य) याल (ग्राम) अथवा* वीणावाद्य, पलाई (मूर्च्छना) इत्यादि शब्दों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय राग, शब्द व्यवहार में नहीं था। उपर्युक्त कुछ संगीत विषयक उल्लेख प्राप्त होने मात्र से इसे संगीत-शास्त्र का ग्रन्थ कह नहीं सकते। अतः भरत नाट्य शास्त्र ग्रन्थ से चर्चा आरंभ करना उचित होगा।

---

* *दक्षिण के पारिपाडल नामक तामिल ग्रन्थ में याल नामक एक वीणा सदृश वाद्य का वर्णन प्राप्त होता है।*

भरतनाट्यशास्त्र

संगीत शास्त्र के प्राचीन प्राप्त ग्रन्थों में भरत रचित भरत नायट्-शास्त्र ग्रन्थ प्रथम और ऐतिह्य दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ का समय कोई विद्वान् तीसरी शताब्दी का मानते हैं किन्तु सामान्यतः इसे ईसा की चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध की कृति माना जाता है। प्रचीन समय की शास्त्र-पद्धति के अनुसार भारतीय संगीत की प्राप्त जानकारी के संस्कृत काल का आरंभ यहीं से होता है।

भरत नाट्य शास्त्र ग्रन्थ में उनके नामानुसार मुख्यतः नाट्य की स्थिति का अधिक प्रकाश प्राप्त होता है। तथापि अध्याय २८ से ३६ तक के विभाग में संगीत के अति उपयोगी विवरण का आलेखन किया गया है। इन विभागों में गीत और वाद्यों का उत्तम विवरण है। किन्तु इस ग्रन्थ में रागों के नाम का उल्लेख नहीं है क्योंकि इस समय जाति-गान प्रचार में था। राग शब्द का प्रचार नहीं था। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि जाति गान वास्तव में मूल राग ही है। भरत मुनि ने एक स्थान पर राग शब्द का प्रयोग—'रागस्तु यस्मिन् वसित यस्माच्चैव प्रवर्तते" कह कर किया है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। किन्तु विशेषज्ञों ने स्पष्ट किया है कि मात्र एक ही स्थल पर राग शब्द का किया हुआ प्रयोग उनके रूढार्थ में नहीं है किन्तु यौगिक अर्थ में है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ है—अंश स्वर वही है कि जिनमें जाति की रंजकता निवास करती है। इस मंतव्य से यह स्पष्ट होता है कि उस समय राग शब्द राग-रागिनियों के रूढार्थ में प्रयुक्त नहीं था, किन्तु उस समय के जाति गान को राग का पूर्व रूप अथवा आधार रूप माना जाना उचित है।

भरत ने केवल जाति-गायन का ही उल्लेख किया है, जो निम्न लिखित प्रकार से है। भरत ने जाति गायन में सात शुद्ध और ग्यारह विकृत जातियों का उल्लेख किया है। शुद्ध जातियाँ* :—

षड्ज–ग्राम की चार जातियाँ (१) षाड्जी, (२) आर्षभी, (३) धैवती और (४) मध्यमा तथा मध्यम-ग्राम की तीन जातियाँ—(१) गान्धारी, (२) मध्यमा और (३) पंचमी

उपर्युक्त शुद्ध जाति रागोत्पत्ति के लिये अपूर्ण होने के कारण अन्य ग्यारह संकीर्ण जातियों के वर्णन के उपरान्त जाति गान के दस लक्षणों का भी उल्लेख किया** है, जो कि इस प्रकार हैं:—

---

* *षाड्ज्यार्षभी च गान्धारी मध्यमा पंचमी तथा।*
धैवती चाथ नैषादी शुद्ध तालक्ष्य कथ्यते। रत्नाकर।

** *ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च।*
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडुविते तथा॥ (नाट्य. २८।७४)

१ ग्रह, २ अंश, ३ न्यास ४ अपन्यास, ५ अल्पत्व, ६ बहुत्व, ७ षाडवत्व ८ औडवत्व, ९ मन्द्र और १० तार—

भरत की सात शुद्ध जातियों में प्रत्येक के नामानुसार न्यास-स्वर नियत किया गया है। जैसे (१) षाड्जी जाति का न्यास षड्ज स्वर, (२) आर्षभी का ऋषभ स्वर, (३) गांधारी का गांधार, (४) मध्यमा में मध्यम, (५) पंचमी में पंचम, (६) धैवती से धैवत और (७) निषाद जाति में निषाद स्वर न्यास रहता था। तथा अन्य ग्यारह जातियाँ इन विकृत जातियों में से दो-दो, तीन तीन के संयोग से उत्पन्न हुई हैं। जैसे षाड्जी एवं गान्धारी के संयोग से षड्ज कौशिकी और षाड्जी एवं मध्यमा के संयोग से षड्जमध्यमा उत्पन्न होती है। इस प्रकार ग्यारह जातियों का उत्पत्ति क्रम दिया गया है। इस प्रकार ग्यारह विकृत और सात शुद्ध मिलाकर कुल अट्ठारह जातियों में षड्ज ग्राम की मूर्छनाओं से सात तथा मध्यम-ग्राम की मूर्छनाओं से ग्यारह जातियाँ उत्पन्न होती है, जिनका विवरण निम्नानुसार है:—

ग्राम	जाति	मूर्छना
षड्ज ग्राम	(१) षाड्जी	धैवतादि मूर्छना
	(२) आर्षभी	पंचमादि मूर्छना
मध्यम ग्राम	(३) गान्धारी	पंचमादि मूर्छना
	(४) मध्यमा	ऋषभादि मूर्छना
	(५) पंचमी	”
षड्ज ग्राम	(६) धैवती	ऋषभादि मूर्छना
	(७) षड्जकैशिकी	षड्जादि मूर्छना
	(८) नैषादी	गान्धारादि मूर्छना
	(९) षड्जोदीच्यवा	
	(१०) षड्जमध्यमा	मध्यमादि मूर्छना
मध्यम ग्राम	(११) गान्धारोदीच्यवा	धैवतादि मूर्छना
	(१२) रक्तगांधारी	ऋषभादि मूर्छना
	(१३) कैशिकी	गान्धारादि मूर्छना
	(१४) मध्यमोदीच्यवा	मध्यमादि मूर्छना
	(१५) कार्मारवी	षड्जादि मूर्छना
	(१६) गांधार पंचमी	गान्धारादि मूर्छना
	(१७) आन्ध्री	मध्यादि मूर्छना
	(१८) नन्दयन्ती	पंचमादि मूर्छना

मूर्छना:—महर्षि भरतने मूर्छना की व्याख्या इस प्रकार की है* —

'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्तमूर्छनास्त्वभिसंज्ञिताः'–सात स्वरों के क्रमयुक्त प्रयोग को मूर्छना कहते हैं। तीन ग्रामों की कुल इक्कीस मूर्छनाएँ हैं । प्रत्येक ग्राम की सात मूर्छनाओं में षड्ज-ग्राम की सात मूर्छनाओं के नाम इस प्रकार हैं।** (१) उत्तर-मन्द्रा, (२) रजनी, (३) उत्तरायता, (४) शुद्ध-षड्जा, (५) मत्सरीकृता, '(६) अश्वक्रान्ता और (७) अभिरुद्गता। मध्यमग्राम की सात मूर्छनाओं के नाम इस प्रकार हैं— (१) सौवीरी, (२) हारिणाश्वा, (३) कलोपनता, (४) शुद्धमध्यमा, (५) मार्गी, (६) पौरवी और (७) हृष्यका हैं।†

प्रथम षड्ज ग्रामिक मूर्च्छनाओं में षड्ज-ग्राम का आरंभिक स्वर का क्रम क्रमशः षड्ज, धैवत ,पंचम, गंधार और ऋषभ स्वर होता है ।††

यह क्रम इस प्रकार है:–

(१) उत्तरमन्द्राः– सा रे ग म प ध नि
(२) रजनीः– नि सा रे ग म प ध
(३) उत्तरायताः– ध नि सा रे ग म प
(४) शुद्धषड्जाः– प ध नि सा रे ग म
(५) मत्सरीकृताः– म प ध नि सा रे ग
(६) अश्वक्रान्ताः– ग म प ध नि सा रे
(७) अभिरुद्गताः– रे ग म प ध नि सा

---

* *भरत. (मुं. सं.) अ. २८ पृ. ४३५*

** *आदावुत्तर मन्द्रास्याद्रजनी चोत्तरायता । चतुर्थी शुद्ध षड्जा पञ्चमी*
मत्सरीकृता । अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता
षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेया : सप्त मूर्च्छनाः । भरत (मु. सं.) पृ ४३४

† *सौवीरी हारिणाश्वाथ स्यात्कलोपनता तथा ।*
शुद्धमध्या तथा चैव मार्गीस्यात् पौरवी तथा ।।
हृष्यका चेति विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः ।
मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छना ।। वही पृ. ४३४-४३५

†† *आसां षड्जनिषादधैवतपञ्चममध्यमगान्धारर्षमाद्याः स्वराः ।* वही. पृ. ४३४
तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन-शुद्धषड्जा मध्यमेन, मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति ।
(भरत. पृ. ४३४)

मध्यम-ग्राम के आरंभ के स्वर इस प्रकार बताये हैं:-

आसां मध्यमगान्धारर्षभषड्जनिषादधैवतपञ्चमा आनुपूर्व्याद्याः स्वराः ।* मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत और पंचम इस क्रम से आरंभ होता है।** जो निम्न प्रकार से स्पष्ट समझ सकते हैं।

१.	सौवीरी	म प ध नि सा रे ग
२.	हारिणाश्वा	ग म प ध नि सा रे.
३.	कलोपनता	रे ग म प ध नि सा.
४.	शुद्ध मध्यमा	सा रे ग म प ध नि.
५.	मार्गी	नि सा रे ग म प ध.
६.	पौरवी	ध नि सा रे ग म प.
७.	हृष्यका	प ध नि सा रे ग म

भरत के मूर्छना विषयक मतानुसार ही शार्ङ्गदेव ने अपने संगीत--रत्नाकर में चर्चा की है। अतः अधिक विवेचन रत्नाकर ग्रन्थ की चर्चा में किया जाएगा।

भरत नाट्यशास्त्र में अधिकतर नाट्य की ही चर्चा है। जिनमें से नाट्य में संगीत का महत्व स्पष्ट करते हुए कहा गया है---

गीते प्रयत्नः प्रथमं कार्य शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम् ।
गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ।

भावार्थ---नाट्य-प्रयोक्ता को प्रथम गीत (गान) का प्रयत्न (अभ्यास) करना चाहिए। क्योंकि गीत नाट्य की शय्या है। यदि गीत और वाद्य को उत्तम प्रकार से प्रयुक्त किया जाय तो नाट्य-प्रयोगों में कोई कठिनाई या विपत्ति उपस्थित होती नहीं है।

भरत नाट्य की उपर्युक्त चर्चा का संक्षिप्त निष्कर्ष इस प्रकार है---

१. उस समय राग शब्द प्रचार में नहीं था किन्तु जाति गान प्रचलित था।
२. सात शुद्ध जातियों के नाम सात स्वरों के नाम पर आधारित है।
३. शुद्ध जातियों में कोई स्वर कम नहीं होता है, अर्थात् सातों स्वर हैं।
४. षड्ज ग्रामाश्रित सात जातियों और मध्यम ग्रामाश्रित ग्यारह जातियों में षड्ज ग्राम की चार-षड्जी, आर्षभी, धैवती और निषादवती जातियाँ शुद्ध हैं।

---

* *वही. मु. संस्करण प. ४३५*

** *अथ मध्यमग्रामे-मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पञ्चमेन हृष्यका इति। (वही. पृ. ४३५)*

५. न्यास स्वर से अतिरिक्त एक दो या विशेष लक्षणों में विकार होने पर जातियाँ विकृत कहलाती हैं। अर्थात् जो शुद्ध हैं वही विकृत भी बनती हैं।

६. शुद्ध जातियों के नियमानुसार मन्द्र स्वर न्यास होता है।

७. सात शुद्ध जातियों के अतिरिक्त ग्यारह जातियाँ एक दो अथवा विशेष जातियों के संसर्ग से विकृत हो जाती है।

८. कुल अठारह जातियों में चार जाति सप्त स्वरा, दस जाति पंचस्वरा और चार जाति षट्स्वरा मानी जाती है।

९. इन जातियों में मध्यम के अतिरिक्त कोई भी स्वर का लोप संभावित है, क्योंकि सात स्वरों में मध्यम स्वर को अविनाशी कहा है।

१०. जाति गान के दस लक्षण बताये गये हैं इस प्रकार अंश, ग्रह, श्रुति इत्यादि के समूह से जातियों की उत्पत्ति होती है।

११. इन जातियों को मनुष्यों में ब्राह्मणत्वादि जातियों के समान माना गया है। रस निष्पत्ति में जातियाँ सहायक होती हैं।

भरत की शिष्य परम्परा

भरत के शिष्यों में दत्तिल, कोहल और विशाखिल इन तीनों पंडितों द्वारा जो ग्रंथ लिखे गये थे, उनमें दत्तिल कृत "दत्तिलम्" नामक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। कोहल कृत "कोहलियम्" ग्रंथ लिखित रूप में ही प्राप्त होता है तथा विशाखिल कृत "विशाखिलम्" ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस परम्परा का "मतंग" मुनि द्वारा लिखित "बृहद्देशी" नामक ग्रंथ मुद्रित हो चुका है। "बृहद्देशी" और "दत्तिलम्" ग्रंथ में रागों की उत्पत्ति, रागों के लक्षण एवं रागों के नामादि का विवरण प्राप्त होता है। ऐतिह्य दृष्टि से महत्वपूर्ण इस "बृहद्देशी" ग्रंथ का समय ईसा की षष्ठ शताब्दी का माना जाता है। (कुछ विद्वान् नवीं शताब्दी का मध्य भाग भी बताते हैं)

मतंग ने कश्यप, नन्दी, कोहल, दत्तिल, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु, शार्दूल और विशाखिल इत्यादि आचार्यों के मत का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में ताल और वाद्य विषयक चर्चा भी की गई है।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मतंग के पूर्व "वीणा" के ऊपर सारिकाएँ नहीं थीं। सर्व प्रथम मतंग ने ही सारिकाओं (पर्दों) का निर्माण किया। इस किन्नरी वीणा के आविष्कारक मतंग माने जाते हैं। किन्नरी वीणा में तीन तार लगाये जाते थे। इनमें एक मुख्य बाज तार और दो चिकारी के तार रहते थे। बाजतार

षड्ज में मिलाया जाता था। सारिकाओं की संख्या १४ या १८ मानी जाती है। किन्नरी वीणा के बृहती, मध्यमा और लध्वी ये तीन भेद माने जाते हैं।

वीणा का बाज तार (मध्य) षड्ज में और चिकारी के दो तार क्रमशः पंचम और तार-षड्ज में मिलाये जाते थे। इस प्रकार की षड्ज-ग्रामिक वीणा के १८ पर्दों में क्रमशः छः पर्दों तक मन्द्र सप्तक, सात से तेरह पर्दों तक मध्य सप्तक और १४ से १८ वे पर्दों तक तार-सप्तक के पाँच स्वर मिले हुए रहते थे।

मध्यम ग्राम की किन्नरी वीणा में बाज का तार मध्यम में और चिकारी के तार क्रमशः षड्ज, मध्यम में मिलाये जाते थे। तथा मूर्छना-अनुसार जब बाज-तार की ध्वनि से सातों स्वरों की संज्ञा नियत की जाती थी तब तदनुसार श्रुति संख्या के आधार पर पर्दों को सरका कर अवशिष्ट स्वरों की स्थापना की जाती थी।

यहाँ पर भी ध्यान रहना आवश्यक है कि इस वीणा में मात्र एक ही बाज-तार रहता था, अर्थात् केवल इसी तार पर वादन का सभी कार्य किया जाता था। बाज तार एक स्वर में स्थिर रहकर अन्य (मन्द्र, मध्य और तार के) १८ स्वरों को १८ पर्दों पर प्राप्त किया जाता था। परन्तु १४ सारिकाओं की किन्नरी वीणा पर सम्पूर्ण मन्द्र सप्तक, सम्पूर्ण मध्य सप्तक और तार सप्तक का केवल एक ही स्वर प्राप्त होता था। १८ सारिकाओं की किन्नरी वीणा में तार सप्तक के पाँच स्वर उत्पन्न होते थे।

द्रविड देश का संगीत

लगभग इसी समय में द्रविड (तामिल) देश में भी एक प्राचीन पद्धति प्रचार में थी। जिनके प्रवर्तक शिव, स्कंद और अगस्त्य थे। उनके लिखे हुए ग्रंथ नष्टप्राय: हो गये हैं। इनके क्वचित् उद्धरण केवल प्राचीन काव्यों में और "निघण्टु" में दृष्टिगोचर होते हैं । इस पद्धति के रागों के नाम "पण" और "निरम" है। जिनका लक्ष्य आज 'देवार" नामक स्तोत्रों में वर्तमान है।

इसी अरसे में दक्षिण भारत में भक्ति का वैष्णव रूप उदित हुआ। "आलवार" भक्तों द्वारा तामिल भाषा में विपुल संख्या में भक्ति-गीतों की रचना हुई। यही नहीं उस समय समस्त दक्षिण भारत में उन भक्ति-गीतों का गान भी किया जाता था। उस समय दक्षिण भारत में इन भक्ति-गीतों द्वारा भक्ति-धारा प्रवाहित हो चुकी थी।

"भरतनाटयशास्त्र" के पश्चात ईसा की षष्ठ शताब्दी से लेकर १० वीं शती तक के समय में दक्षिण भारत एवं बंगाल में वैष्णव भक्ति के प्रसार एवं प्रचार में उस समय के संगीत द्वारा भक्ति-गीतों के गान का ही प्रवाह मुख्यत: दिखाई देता है। इस भक्ति संगीत के आधार को लक्ष्य में रखकर ही "बृहद्देशी" और "दत्तिलम्" तथा दक्षिण के (तामिल देश के) नष्टप्राय: ग्रंथों की रचनाएँ की गई थी, ऐसी मान्यता है।

उपर्युक्त हकीकत से स्पष्ट होता है कि भरत के समय की जाति-गान-प्रणाली का मतंग के समय में परिवर्तन हो चुका था। "राग" शब्द को रूढ अर्थ में यदि देखा जाय तो सर्व प्रथम "राग" शब्द का प्रयोग "बृहद्देशी" ग्रंथ में ही दृष्टिगत होता है।

छठी शताब्दी के पूर्व के संगीत ग्रंथों में "भरतनाट्यशास्त्र" ग्रंथ निर्विवाद सिद्ध होता है। किन्तु "बृहद्देशी" ग्रंथ के विषय में छठी या नौवीं शताब्दी का मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। छठी शती के पूर्व के पौराणिक समय को भक्ति के बाह्य रूप का विकास युग कहा जाता है। इस युग में साथ-साथ भारत में बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव भी बढ़ता रहा था। पौराणिक युग और बौद्ध धर्म का उत्थान युग एक ही समझा जाता है। परन्तु ईसा की तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक भारतवर्ष में गुप्तवंशी राजाओं के शासन युग में भागवत धर्म के प्रचार और प्रसार में सर्व प्रकार की सुविधा और अनुकूलता प्राप्त होती रही। फलत: बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव पीछे कम हो गया, किन्तु गुप्त साम्राज्य के पश्चात् सम्राट हर्षवर्धन (ई. स. ६३०) के समय में भागवत धर्म की उपेक्षा के

कारण बौद्ध, जैन और शैव धर्मावलंबियों को अपने सिद्धांतों और मंतव्यों के प्रचार का मौका प्राप्त होने पर उत्तर भारत में उन धर्मों का प्रसार हो गया। परन्तु ठीक इसी समय दक्षिण भारत में भक्ति का वैष्णव रूप उदित हुआ और आलवार भक्तों के रूप में तामिल भाषा के माध्यम से वैष्णव भक्ति विकासोन्मुख होने लगी । इन आलवार भक्तों ने विपुल संख्या में भक्ति-गीतों की रचनाओं के (संगीत) गान द्वारा समस्त दक्षिण देश में भक्ति धारा को प्रवाहित कर दिया। भक्ति के सन्दर्भ में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि "भक्ति द्राविडी उपजी, लाये रामानंद" तदतिरिक्त श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में भी द्रविड़ देश से भक्ति का उद्भव होने की कथा सुप्रसिद्ध है।‡

प्रसिद्ध विद्वान् चिन्तामणि वैद्य का कहना है कि वैष्णव धर्म का प्रवाह बंगाल से हुआ है। तथा ई. स. सात से १० शती तक की वैष्णव भक्ति के प्रवाह के कारण के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि जैन और बौद्ध धर्म की अहिंसा को नवीन वैष्णव धर्म में स्वीकार किया गया। फलतः हिन्दुओं को जैन और बौद्ध धर्म से हट कर पुनः अपने प्राचीन विष्णु भगवान् का नवीन कृष्णावतार रूप स्वीकार करने का मार्ग सरल हुआ । बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान कर हिन्दुओं का देव बना दिया । इस नवीन भक्ति का सूत्रपात दक्षिण से नहीं किन्तु बंगाल से होने की उनकी मान्यता है, परन्तु‡‡ दक्षिण से भक्ति के उद्भव की हकीकत इतनी व्यापक और प्रचलित है कि उसका खंडन करना सरल नहीं है। तथापि बंगाल में उस समय वैष्णव धर्म के बीज की विद्यमानता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हैं।

कुछ भी हो किन्तु उस समय हिन्दुओं में विष्णु भगवान् भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों में उपास्य देव के रूप में मान्य थे और भक्ति मार्ग द्वारा ही विष्णु-श्रीकृष्ण भजनीय एवं प्राप्य माने जाते थे । इस मान्यता को स्वीकार करना होगा।

इसी समय में "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" के श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत और निर्गुण ब्रह्म की मान्यता के मायावाद संबंधित विचारों का दक्षिण से उत्तर भारत तक उत्तम प्रभाव और व्यापक प्रचार हो चुका था। शांकर मत के इस प्रचार ने बौद्धों को निराश कर दिया । दूसरी और यह वैष्णव धर्म के लिए भी घातक हुआ। अद्वैत प्रचार से सगुणोपासना और सगुण के प्रति पूज्य बुद्धि का अभाव होने लगा । इस भाव को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए भक्तिमार्गीय प्रचारकों ने प्रयत्न आरंभ किये । तथापि शांकर-भक्ति के तामिल संगीत पद्धति के प्रबन्ध

---

‡ अध्याय–४८ श्लोक-५०

‡‡ *It does not appear that this New Vaishnavism come from South or was due to the teaching of the Vaishava Bhagwat Puran.*

History of Mediaeval India, (Vol. III)

गान का ७ वीं और ८ वीं शताब्दी में समस्त प्रान्तों में प्रचार और प्रसार होता रहा। इन प्रबन्धों के प्राचीन तामिल राग 'फण' और 'तिरम्' कहे जाते थे। रचयिताओं में मुख्यतः ज्ञानसंबंधर, अप्पर (वागीशर) और सुंदरमूर्ति, ये तीनों शैव-आचार्य थे। इन प्रबंध गीतों को "देवार" कहते हैं। प्रचलित देवारों में २४ फण (राग) हैं। जिनके नाम प्रायः मतंग, दत्तिल और शार्ङ्‌गदेव के ग्रंथों में प्राप्त नामों से मिलते-जुलते हैं। आज भी शैव देवारों की गान पद्धति शैव मन्दिरों में प्रचलित है। इस प्रकार शांकर सम्प्रदाय में भी संगीतात्मक भक्ति का स्थान था।

भक्ति एवं कीर्तन भक्ति (भगवद्-गुणगान) के विषय में स्वयं श्रीमद् आद्यशंकराचार्य के कुछ उल्लेख निम्न प्रकार हैं:—

"मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी"*

मोक्ष प्राप्ति के समस्त साधनों में श्रेष्ठ साधन भक्ति है। विष्णुसहस्रनाम के शांकरभाष्य में भी कहा है कि** "श्रद्धा-भक्ति-रहित भी भगवान् का नाम-संकीर्तन समस्त पापों को नष्ट करता है। तो फिर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक संकीर्तन के लिये कहना ही क्या?

श्रीमद् आद्यशंकराचार्य रचित इस भाष्य में, स्तोत्र पाठादि अष्टकों में एवं अन्य टीकाओं में अनेक स्थलों पर भक्ति एवं भगवद् गुणगानादि संकीर्तन के समर्थन के उल्लेख दिखाई देते हैं। अतः कीर्तन संकीर्तन भक्ति का ही अंग होने से भगवान् के गुणों का गान करना स्पष्ट होता है।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति संगीत

ईसा की ७वीं एवं ८ वीं शताब्दी में शैव सम्प्रदाय की देवार रचनाओं के गान का शैव मंदिरों में प्रचार हो रहा था। उसी समय दूसरी ओर लगभग उसी प्रकार का आलवार वैष्णव भक्तों द्वारा दिव्य प्रबन्धों की विपुल रचनाओं के संगीतबद्ध गान का प्रसार भी हो रहा था। इन प्रबन्धों के रचियता द्वादश विष्णुभक्तों के संस्कृत नाम इस प्रकार हैं:—

१ सरोयोगी, २ भूतयोगी, ३ महायोगी, ४ भक्तिसार, ५ शठकोप, ६ मधुर-कवि, ७ कुलशेखर, ८ विष्णुचित्, ९ गोदा, १० भक्तांघ्रिरेणु, ११ योगिवाहन, १२ परकाल।

कहा जाता है कि इन आलवार भक्तों द्वारा रचे हुए चार हजार पदों को देवार के समान प्राचीन तामिल फणों (रागों) में गाया जाता था। परन्तु तत्पश्चात्

---

* *विवेकचूडामणि-३२*

** *"श्रद्धाभक्त्योरभावोऽपि भगवन्नामसंकीर्तनं समस्त दुरितं नाशयतीत्युक्तम्।" (विष्णुसहस्रनाम, शांकरभाष्य–१४)*

फणों का गान लुप्त होता गया और देवगंधारी एवं आरभी-मिश्रित राग शैली में गान आरंभ हुआ। आलवार भक्तों द्वारा रचित तामिल भाषा का यह प्रबन्ध-गान अति पवित्र माना जाता है। भक्ति रस और आर्द्रवृत्ति से परिपूर्ण इन प्रबन्धों को "द्राविडवेद" अथवा "वैष्णववेद" भी कहते हैं।

आलवारों की रचनाओं को शास्त्रीय रूप में आचार्य कोटि के आलवार भक्तों ने स्थापित करने की चेष्टा की है। जिनमें प्रथम आचार्य "नाथमुनि" (ई.स. ८२४) माने जाते हैं । नाथमुनि की परंपरा में "पुंडरीकाक्ष" "राममिश्र" और "यामुनाचार्य" के नाम प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि श्रीरामानुजाचार्य ने विशिष्ठाद्वैत की प्रेरणा यामुनाचार्य से प्राप्त की थी। रामानुजाचार्य के समय से चतुः सम्प्रदाय का आरंभ होता है। अतः इस विषय का अधिक अवलोकन मध्य-युग के विवरण में आगे किया जायेगा।

परन्तु तत्पूर्व तीसरी से १० वीं शताब्दी तक के प्राचीन युग में भक्ति-भाव, उपासना, संगीतात्मक भक्ति-गान, एवं सामाजिक व्यवहार द्वारा संगीत ने उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था, यह दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन नाटकों और महाकाव्यों का उद्भव भी इसी समय में हुआ । इन नाटकों और महाकाव्यों के साहित्य में संगीत विषयक उल्लेखों का उच्चस्थान स्पष्ट दिखाई देता है । महाकवि कालिदास, भतृहरि, दंडी और बाणभट्ट जैसे प्रखर विद्वान् इसी युग में उत्पन्न हुए थे। भतृहरि ने तो स्पष्ट कहा है कि "साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"। उपर्युक्त उल्लेख आज तक सुविख्यात है। महाकवि कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" नामक नाटक में "मध्यमादि सारंग" नामक राग नाम का निर्देश दृष्टिगत होता है। तदुपरान्त "मेघदूत" में मेघधनुष से शोभित मेघ को गोपवेषधारी विष्णु की समानता बताने में श्रीकृष्ण (गोपवेशधारी) का ही संकेत है।*

महाकाव्यों और नाटकों के अतिरिक्त इस युग में संगीत को समृद्ध बनाने में भक्ति-सम्प्रदायों का महत्वपूर्ण स्थान भूलना न चाहिए।

इस युग को संगीत का सुवर्ण युग माना जाता है। पं. भातखंडे जी का मत है—"भरत और मुसलमानों के आक्रमण बीच लगभग सात या आठ शती के समयान्तर को अपने संगीत का सुवर्ण युग माना जाता है।" इसके पश्चात् केप्टन डे का निम्न उद्धरण दिया है–"मुसलमानों की जीत के कुछ समय पूर्व तक देशी राज्यों के समय में भारतीय संगीत का समृद्धि युग था। मुसलमानों के आगमन के बाद उसकी दुर्दशा का आरंभ हुआ। वह आज तक टिक सका, यह सचमुच आश्चर्यजनक है।"

---

* *गापवेशस्थ विष्णो : १ मेघदूत*

केप्टन डे के उक्त मतव्य की चर्चा करते हुए पं. भातखंडे ने लिखा कि केप्टन डे की उपर्युक्त टीका केवल उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत से ही संबंधित है। किन्तु दक्षिण के संगीत के विषय में उन्होंने कहा है कि दक्षिण हिन्द की स्थिति आंतरिक कलहों से कुछ कम अशान्त होने से तथा उत्तर प्रान्तों की अपेक्षा देशी राजाओं के अन्तर्गत का प्रमाण अधिक होने से उत्तर में संगीत नष्ट हो जाने के बाद भी दक्षिण में संगीत शास्त्र का अधिक समय तक निभाव और विकास हुआ दिखाई देता है।*

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट समझा जाता है कि ईसा की ४ से १० वीं शताब्दी तक का समय भारतीय संगीत का समृद्धि युग था। उत्तरीय प्रान्तों की अपेक्षा दक्षिण के प्रान्तों में संगीत का विशेष विकास हुआ और अधिक समय तक टिका सका। परन्तु इस हकीकत के संदर्भ में महत्व का यह कारण भूलना न चाहिए कि दक्षिण हिंद में वैष्णव (आलवार) भक्तों के भगवद्-भक्ति से युक्त पद संगीत-बद्ध होने के कारण संगीत पद्धति के अनुसार गाये जाते थे। जिनका प्रचार भक्तजनों द्वारा जनसमाज में मूल प्रकार से होने लगा और शनैः शनैः दक्षिण के सभी प्रान्तों में उनका प्रसार होता रहा।

यद्यपि इन प्रबन्धों का संगीत समझने के लिये उस समय का कोई भी संगीत ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। तथापि दो-चार उपलब्ध ग्रंथों की चर्चा पूर्व में की गई है। परन्तु उस समय का संगीत अर्थात् गान या वादन किस प्रकार किया जाता था? यह समझने लिये कोई विश्वसनीय विवरण प्राप्त नहीं है। इनका प्रचार श्रीकृष्णलीला, श्रीकृष्ण भक्ति के विविध वर्णनों के गान से होने लगा और वे लोगों में रुचिकर हो कर भक्तजनों के भवित-संगीत के पोषक हुए, यह स्पष्ट है। इस संबंध में सुप्रसिद्ध डॉ. विजयेन्द्र का मन्तव्य निम्न प्रकार है:—

"वैष्णव आलवार भक्तों का काल ईसा की पांचवीं शती से नवमी शती के मध्य का स्थित किया जाता है। इन आलवारों में श्रीकृष्ण को ही पुरुष स्वीकार करके पूज्य देवता माना जाता था। भक्तजन अपने को नायिका (स्त्री) मानते थे। इन भक्तों के चार हजार पद श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध पाये जाते हैं। इनमें श्रीकृष्ण तथा एक प्रमुख गोपी का वर्णन है। कल्पना की जाती है कि यह प्रमुख गोपी राधा ही है।"

"इसके अतिरिक्त 'कुरवैकुडु' नामक तामिल नृत्यविशेष का भी लीला प्रसंग में उल्लेख है। यह नृत्य श्रीकृष्ण की रास-लीला का समकक्ष प्रतीत होता है। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि पाँचवीं-छठी शती में दक्षिण के आलवार

---

* *उ. हि. संगीत की संक्षिप्त अै. समालोचना। गुजराती पृ.५–६।*

वैष्णवों में रास-लीला और राधा-कृष्ण युगल केलि का कोई न कोई रूप विद्यमान था, जो परवर्ती काल में और व्यक्त तथा स्पष्ट होता गया।"

उपर्युक्त उल्लेख से भी इस धारणा को समर्थन प्राप्त होता है कि पांचवीं छठी शती से श्रीकृष्ण भक्ति के कीर्तन अर्थात् श्रीकृष्ण-लीला के प्रबन्धों का गान ही नहीं नृत्यों का भक्ति स्वरूप भी पाया जाता है। जिन का नवमी शताब्दी तक व्यापक प्रचार हो चुका था। ई. स. की प्रथम शताब्दी की रचना गाथा सप्तशती नामक प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रंथ में भी तीन स्थानों पर श्रीकृष्ण की व्रज-लीला और गोपियों का वर्णन मिलता है।

चतुर्थ शती से दसवीं शती के प्राचीन युग में वैष्णव धर्म के मन्दिरों एवं इन मन्दिरों में संगीतमय प्रार्थना तथा भगवद् गुणगान युक्त प्रबन्धगानादि की दृष्टि से विचार करने के लिए निम्नलिखित उल्लेख पर्याप्त होंगे—

विक्रम सं ४६१ (ई. स. ४०५) में दशरूपा सहस्रशीर्षा पुरुष की स्तुति से आरंभ करते हुए नरवर्मा के शिलालेख में नरवर्मा ने वासुदेव को अपना शरण्य कहा है।[*]

ई. स. ४२४ में तीन वैश्य भाइयों ने विष्णु का मन्दिर बनवाया था आरंभ में विष्णु की स्तुति से युक्त शिलालेख नगरा के पास प्राप्त हुआ है।[**] तथा सौराष्ट्र में चन्द्रगुप्त के नियत किये हुये सूबेदार पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने ई. स. ४५७ में गिरनार की पास कारणमानुष चक्रभृत-विष्णु का मंदिर बनवाया था। लेख का आरम्भ विष्णु के वामन अवतार की स्तुति से किया गया है।[‡] उपरान्त चालुक्य वंश के मंगलीश राजा ने वातापि-बदामी में एक गुफा खुदवाकर उसमें ई. स. ५७८ में विष्णु का मन्दिर बनवा कर विष्णु की मूर्ति पधराई थी।[‡‡]

झाँसी जिले के देवघर ग्राम के पुराने-जर्जरित मंदिर में विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा विराजित हैं, और आसपास इन्द्र इत्यादि देवगण स्तुति कर रहे हैं। यह मूर्ति छठी या सातवीं शती की मानी जाती है।

ईसा की सातवीं शताब्दी में नरसिंह वर्मा (द्वितीय) ने कांची के कैलासनाथ स्वामी के मंदिर में विष्णु की मूर्ति पधरा कर मन्दिर बनवाया था।

---

[*] *Epigraphia Indica Vol. XIII. P.* 321.

[**] *Progress Report of the Archaeological Survey of India Western circle* 1916. *P.* 56.

[‡] *Corpus Inscriptorum Indiearnum Vol. III.*

[‡‡] *Indian Antiquary Vol. III. P. Vol. VI. P.* 363.

कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के समय (ई. स. ९०८) में विष्णु के तीन मन्दिर बनाये गये थे। पश्चात् दशवीं शती में उदेपुर के पास चारणेश्वर महादेव के मन्दिर के शिलालेख (ई. स. ९५४) में मुरारि का मन्दिर बनवा कर हरि की मूर्ति पधराने का उल्लेख प्राप्त होता है। ई. स. ९५५ में खजुराहो के लेख में बुदेलखंड के चंदेल राजा हर्षदेव के पुत्र यशोवर्मा ने एक बैकुंठ मन्दिर बनाया यह उल्लेख भी प्राप्त होता है। तदतिरिक्त भुवनेश्वर में अनन्त वासुदेव (बलराम और कृष्ण) का मन्दिर दशवीं शती के अन्त में बनवाया हुआ माना जाता है।*

दशवीं शताब्दी तक के प्राचीन युग में अनेक मन्दिरों का सर्जन हो चुका था। वैष्णव भक्ति मार्ग की प्रार्थना स्तुत्यादि एवं भगवद् गुणगान की महिमा का प्रचार तंत्र शिलालेखों में और मूर्तियों में श्रीकृष्ण की लीला के चरित्र अंकित किये हुए दृष्टिगत होते हैं। शिल्प एवं चित्रकला का भक्तिमय व्यापक रूप ईसा की पांचवीं शताब्दी का माना जाता है। जोधपुर के नजदीक मन्दोर के पास निकले हुए एक स्तंभ के ऊपर की मूर्तियों में शकटभंग, गोवर्धनधारण इत्यादि श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के दर्शन होते हैं। उपरान्त बंगाल में पहाड़पुर के खोदकाम में एवं बादामी गुफाओं में श्रीकृष्ण के लीला-चरित्रों का अंकन व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होता है।

श्रीकृष्ण-भक्ति-विषय में आठवीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति का शृंगारमय साहित्य भट्टनारायण रचित 'वेणीसंहार' में प्राप्त होता है। एवं दशवीं शती में श्रीकृष्ण चरित्र का प्रेम संबंधित लीला वर्णन त्रिविक्रम भट्ट के 'नल चम्पू' में दृष्टिगोचर होता है। तदतिरिक्त' दशवीं शती के 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' में राधा-कृष्ण से संबद्ध अनेक श्लोक हैं।

---

* वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास।

मध्ययुगीन भक्ति क्षेत्र में संगीत

संगीताचार्य भक्त कवि जयदेव

पुष्टि सम्प्रदाय की गान–परंपरा में एक जबरदस्त मर्यादा यह है कि नियत किये हुए भक्त-कवियों एवं संगीताचार्यों के ही पदों का गान किया जाता है। इनमें अधिकतर सम्प्रदाय के ही अष्टछापादिक शिष्य-गण हैं। कभी कभी अन्य भक्तों के भगवत्लीला संबंधी गाये हुए कीर्तनों का भी समावेश हुआ है। इसी परिपाटी से हवेली संगीत की परंपरा का अविच्छिन्न रूप आज तक जारी रहा है। भविष्य में यदि इस परंपरागत प्रणालिका में अन्य परवर्ती कवियों के पद-गान समावेश करने की चेष्टा की जायगी तो सम्प्रदाय की भावात्मक, साहित्यात्मक और संगीतात्मक दृष्टि से यह कृत्य विघातक होगा।

सम्प्रदाय की कीर्तन-प्रणाली के कीर्तनकारों की संख्या के विषय में अन्य प्रकरण में चर्चा की जायगी। यहाँ केवल सम्प्रदाय में मान्य कीर्तनकारों का ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से विचार करेंगे। हवेली संगीत के पद गान की परंपरा में जिन-जिन भक्त संगीतकारों को स्थान दिया गया है, उनमें काल क्रम की दृष्टि से सर्व प्रथम 'भक्त कवि जयदेव' का स्थान उल्लेखनीय है।

यद्यपि जयदेव के पूर्वयुग में भी भक्ति और संगीत का प्रचार हो चुका था, तथापि भक्तिक्षेत्र एवं संगीत क्षेत्र के मुक्त वातावरण का आरम्भ जयदेव के समय से होता है। भक्तिमार्गीय आचार्य युग का आरंभ भी इसी समय से होता है। भक्तिमार्गीय चतुः सम्प्रदाय के चार आचार्यों में सर्व प्रथम वैष्णवाचार्य रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव समय ई. स. १०१७ से ११३७ लेकर विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य का समय ११९७ से १२७६ तक का माना जाता है। मतांतर की दृष्टि से विष्णुस्वामी को प्रथम निम्बार्काचार्य को द्वितीय और रामानुजाचार्य को तृतीय तथा मध्वाचार्य को चतुर्थ क्रमानुसार माना जाता है।

जयदेव के पूर्व भी पुराण एवं भागवत के नृसिंह, वामन, वराह, रामावतारादि की कथा-पूजा का प्रचार दृष्टिगत होता है। वैष्णव भक्ति की दृष्टि से श्रीकृष्ण को पूर्णावतार और अन्य २४ अवतारों को अंशावतार, जिनमें १० अवतार प्रमुख हैं, माना गया है। श्रीकृष्णभक्ति और दशावतारों के गुण चरित्रों के कीर्तन, श्रवण, और स्मरण का प्रवाह ११ वीं शताब्दी तक बहता रहा था। इस तथ्य को जयदेव रचित प्रथम प्रबन्ध से ही समर्थन प्राप्त होता है। पं. भातखंडेजी ने जयदेव संबंधी निम्नलिखित अवतरण दिया है:—

"भक्त कवि जयदेव का जन्म बंग देश के वीरभूम जिले के केंदुबिल्य (केन्दुला) नामक ग्राम में ईसा की ११ वीं शताब्दी में हुआ था। उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का वर्णन कर संस्कृत भाषा में "गीत-गोविंद" नामक एक सुललित प्रीति काव्य लिखा था। स्थान-स्थान पर इस काव्य के भाव शुद्ध और उच्च हैं। परन्तु बहुत स्थान साधारण लोगों को कुरुचिपूर्ण और लज्जाजनक मालूम होते हैं। भक्तिमार्ग की साधना में जो अति प्रवीण हैं वे ही केवल इन सब स्थानों के गूढ रहस्यों को हृदयंगम कर सकते हैं। अन्यों के लिये ये विषवत् है। ऐसा क्वचित् कोई मनुष्य होगा जो जयदेव के मधुर गीतों की आवृत्ति सुनकर मोहित न होता हो।" (भा. सं. पं. मराठी आवृत्ति पृष्ठ–६६५।

जयदेव गौडेश्वर महाराज लक्ष्मणसेन के सभा कवि थे। लक्ष्मणसेन को ई. स. १११८-१९ में राज्याधिकार प्राप्त हुआ था। अतः जयदेव का जन्म ई. स. की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।* माता पिता के देहान्त के बाद किशोरावस्था में ही तीर्थ स्थानों में यात्रा करते हुए वैष्णव सम्प्रदाय के 'यशोदानंदन' नामक महात्मा का शिष्यत्व ग्रहण किया था। पश्चात् विवाह होने के बाद ही 'गीत गोविंद' की रचना की गई थी।

'गीतगोविंद' पदों का जर्मन, लेटिन और अंग्रेजी भाषा में भी भाषान्तर हो चुका है। उनके प्रत्येक पद में आठ-आठ चरण होने से इन्हें 'अष्टपदी' कहा जाता है। इस रचना को साम्प्रदायिक दृष्टि से देखा जाय तो निम्बार्क तथा अधिकतर 'विष्णुस्वामी' की वैष्णवी भावना के साथ सुसंगत कही गयी जायगी। चतुः-सम्प्रदाय की दृष्टि से पुष्टि सम्प्रदाय की आचार्य परंपरा का 'विष्णुस्वामी' परंपरा में समावेश माना जाता है। इस दृष्टिकोण से हवेली-संगीत के गायकों की परंपरा जयदेव तक ले जा सकते हैं।

श्री जयदेवजी ने श्रीराधा-कृष्ण के प्रति भक्तिभाव को मधुर काव्य में संगीत-बद्ध किया है। जयदेवकृत वर्णन केवल काव्यानंद के लिये हुआ हो ऐसा नहीं है; हरिस्मरण के लिये भी किया गया है। इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है।** 'हवेली-संगीत' के भक्त-गायकों ने तो भगवल्लीलादि का हरिस्मरण के लिये ही गुणगान किया था।

प्रायः हमारे इतिहासकार आधुनिक संगीत का उद्गम ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारंभकाल तक ले जाते हैं। किन्तु हमारे संगीत में जिस

---

* अतो जयदेवकविजीवनसमयोऽपि ख्रिस्ति संवत्सर स्यैकादश शतकं आसीदिति फलितार्थः। गीतगोविंद काव्यम्।

** यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासुकुतूहलम्। जयदेव

वस्तु को 'राग' कहते हैं और राग को संगीत का प्राण समझते हैं उन रागों का उगमकार भक्त जयदेव को मानना इतिहास-सिद्ध है।

आज कल जिस अर्थ में 'राग' शब्द का प्रयोग किया जाता है उस रूढार्थ में भरतादि के समय में 'राग' शब्द प्रचार में नहीं था। उस समय 'जाति' शब्द था । जातियों के प्रकार के उपरान्त श्रुति, ग्राम, मूर्च्छनादि का भी वर्णन 'भरत-नाटयशास्त्र' में पाया जाता है, किन्तु जातियों से मूर्च्छना का उपयोग करने का का कोई विधान प्राप्त न होने के कारण अनुमान किया जाता है कि जातियों का संबंध मूर्च्छना से न होकर ग्राम के साथ होता होगा । जब धीरे-धीरे जाति गान का प्रचार मंद होता चला गया तब प्रत्येक ग्राम से मूर्च्छना नियत होने लगी और उसी में से रागविस्तार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। भरतनाट्यशास्त्र के समय के बहुत बाद ग्राम-राग उत्पन्न होने लगे । फलतः ग्राम-राग मूर्च्छनादि को 'देशी संगीत' (देशीगान) कहना आरंभ हुआ। यह परिवर्तन किस समय से हुआ होगा, इसकी आधारपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती । फिर भी यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि जयदेव के समय के आरंभ तक रागादि व्यवस्था में दक्षिण और बंगाल प्रान्त मुख्य थे। जयदेव रचित पदों से स्पष्ट होता है कि उस समय बंगाल में भक्तिमय काव्यों को राग और तालबद्ध गान करने का विशेष प्रचार था।

जयदेव के 'गीतगोविंद' में २४ अष्टपदियाँ प्राप्त होती है। इन प्राचीन प्रबन्धों (अष्टपदियों) के राग भी तत्कालीन हैं। जिनके स्वरूप अप्रचलित बन जाने के कारण गायक आजकल के प्रचलित ताल में बिठा कर गाते हैं। फलस्वरूप एक ही अष्टपदी को कोई भैरवी में, कोई केदारे में, कोई बागेश्री में, तो कोई वसंत या हिंडोल में भी गाते हैं।

यद्यपि गीतगोविंद के रागों का स्वरूप आज प्रचलित नहीं है, तथापि हमारे वैष्णव-मन्दिरों में इन प्रबन्धों के गान की प्रथा पाई जाती है। हम पहिले कह चुके हैं कि 'हवेली संगीत' के कवियों एवं संगीतकारों में जयदेवजी को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम स्थान दिया जाता है। सम्प्रदाय में नियत ऋतु में, नियत दिन, नियत समय पर अष्टपदियाँ गाने की प्रणाली आज भी है। कुछ अष्टपदियाँ तो जयदेवजी के मूल राग में भी गाने की प्रथा दिखाई देती है। पुष्टि सम्प्रदाय की प्रणाली में वसंत-पंचमी को वसंतोत्सव के दर्शन में—उनके मूल राग 'वसंत' में ही निम्न अष्टपदियों का गान किया जाता है—

ललितलवंगलतापरिशीलन विहरति हरिरिह सरस वसन्ते (प्रबन्ध-३)*
स्मरसमरोचितविरचितवेशा । प्रबन्ध-१४ ।
विरचित चाटुवचनरचनं चरणे । प्रबन्ध-२० ।

---

* *यह अष्टपदी प्रायः सम्प्रदाय के सभी पीठों में वसंतपंचमी के दिन राग वसंत में ही गाई जाती है।*

तदुपरान्त निम्न अष्टपदी भी उनके मूल राग 'मालव' में रामनवमी, नृसिंह जयंती तथा वामन जयन्ती के दिन भोग-संध्या आरती के दर्शन में गाने की प्रथा है। प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम् (प्रबन्ध-१) तदतिरिक्त 'रतिसुखसारे धीरसमीरे' (प्रबन्ध-११) यह अष्टपदी तृतीय पीठ की प्रणाली में ज्येष्ठ सुदी दशमी के दिन शयन के दर्शन में तथा नवनीतलाल के गृह की प्रणाली में ज्येष्ठ शुक्ल १५ के रोज शयन दर्शन में बिहाग (बिहागडा) राग में तथा षष्टम गृह (सूरत) की प्रणाली में ज्येष्ठ शुक्ल ११ के दिन राजभोग के दर्शन में 'सारंग' राग में गाई जाती है। कुछ समय पहिले उनके मूल राग 'गूर्जरी (टोड़ी में) गाने की प्रथा भी थी।*

चन्दनचर्चितनीलकलेवर पीतवसनवनमाली (प्रबन्ध-४)—इस अष्टपदी का अक्षयतृतीया से रथयात्रा तक, जब भगवान को चन्दन का लेपन किया जाता है तब, गान किया जाता है।

जयदेवजी कृत कहा जाने वाला गंगास्तव भी ज्येष्ठ शुक्ल दसमी के दिन शृंगार के ओसरा में 'सुरत' की प्रणाली में राग-भैरव में गाया जाता है।

रागः—

भक्तकवि जयदेव के गीतगोविंद के गान में निम्न रागों के उल्लेख पाये जाते हैं—(१) मालवा (२) गुर्जरी (३) वसन्त (४) रामकरी (५) गुनकरि (६) मालव-गौड़ ७) देशाख्य (८) भैरवी (९) विभास (१०) कर्णाट, (कान) अथवा केदार का भी कहीं उल्लेख किया है (११) देशीवराडी (देशवराडी) और (१२) वराडी।

तालः—

जयदेव में निम्नांकित तालों का उल्लेख है—

(१) यतिताल (२) रूपकताल (३) मठप्रतिमठ ताल (४) एकताल और (५) अष्टताल (अठताल)।

जयदेव कृत गीतागोविंद के राग और तालों के मूल स्वरूप में ही पुष्टि सम्प्रदाय में अष्टपदियां गाई जाती हैं, ऐसा हम कह नहीं सकते। तथापि गीतगोविंद में छपी हुई तीन अष्टपदियाँ जो पुस्तक में 'वसन्त रागेण गीयते' कह कर राग 'वसन्त' कहा गया है, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में वसन्त पंचमी के रोज गाये जाने वाली अष्टपदियों का प्राचीन वसन्त राग का रूप आज के इतर गायकों में प्रचलित वसन्त से भिन्न अवश्य था। उसमें पंचम वर्ज्य, ऋषभ कोमल एवं शेष सब स्वर शुद्ध होते थे। वसन्त राग के इस प्राचीन स्वरूप में ही उपर्युक्त तीनों अष्टपदियाँ सम्प्रदाय में गाई जाती हैं। अतः 'हवेली-संगीत' में जयदेव के समय के वसन्त राग का प्राचीन स्वरूप आज भी दृष्टिगोचर

---

* *देखिए—श्री नवनीतलाल के गृह की तथा सुरत के गृहादि की कीर्तनप्रणालिका।*

होता है यह कहना अवास्तविक नहीं होगा। इस संबंध में पं. रातंजनकरजी का उल्लेख है कि–"यह वसंत जयदेव के पश्चात् लगभग ५०० वर्ष के ग्रन्थों में मिलता है। 'संगीत रत्नाकर' के शुद्ध विकृत स्वरों का संतोषजनक निश्चय अभी नहीं हुआ है। अतएव उसमें कहे हुए रागों के स्वरूप हम लोग निकाल नहीं सकते। तत्पश्चात् के ग्रन्थों में वसन्त का स्वरूप वही है जो कि ऊपर बताया गया है।* दाक्षिणात्य संगीत में तथा बंगाल के कीर्तनों में यह वसन्त अब भी प्रचलित है। जयदेव स्वयं बंगाली थे अतएव इसी वसन्त में इन अष्टपदियों को गाने में वस्तुस्थिति के निकट तो हम लोग अवश्य होंगे।'** वसन्त राग के अतिरिक्त अष्टपदियों के रागों की चर्चा 'राग-प्रकरण' में तथा तालों की चर्चा 'ताल-प्रकरण' में की जाएगी।

इस प्रकार गेय-काव्य का आरंभ कवि जयदेव से कहा जायगा। यद्यपि प्राचीनतम काल में सामगान अधिकतर गेय काव्य था। कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि की अमर-रचना सर्व प्रथम लव-कुश द्वारा गाये जाने के लिये प्रस्तुत की गई थी, और उत्कृष्ट गेय काव्य के रूप में ही उसका प्रचार हुआ था। इस प्रकार वेदकाल से कालिदास के मेघदूत तक संस्कृत भाषा में अनेक गेय काव्य रचे गये हैं, जिन का संक्षिप्त विवरण 'पूर्वखंड' में किया गया है। परन्तु उस समय काव्य और गीत या कवि और गानकर्ता (गायक) में कोई विशेष भेद नहीं समझा जाता था। अतः कुछ आलोचकों के मतानुसार हमारा भी मन्यव्य है कि इन गेय काव्यों को वास्तविक अर्थ में गीत-काव्य नहीं कहा जा सकता। वर्तमान परिभाषा के अनुसार जयदेव के 'गीत-गोविंद से ही संस्कृत भाषा में गीति-काव्य की परंपरा का आरंभ मानना उचित है।

हिन्दी के नवनिर्माण काल में अपभ्रंश में भी सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों के काव्य तथा नाथपंथियों की कृतियों में भी गेय काव्य की प्रधानता है। ये राग-बद्ध हैं। अष्टछाप से पूर्व गेय पद-रचना करने वाले भक्त कवियों में हम विद्यापति, चंडीदास, नामदेव, भक्त नरसिंह तथा संत-कबीरादि का उल्लेख करना चाहते हैं। अष्टछाप के पूर्ववर्ती भाषा में गेयपद रचयिताओं में प्रथम विद्यापति का स्थान है। अतः संस्कृत गीतिकाव्य के मूल आरंभकर्ता जयदेव के पश्चात् विद्यापति और तत्पश्चात् क्रमशः उपर्युक्त उल्लेखानुसार कबीर तक का परिचय इसी प्रकरण में किया जायगा।

---

* पंचमवर्ज्य, ऋषभ कोमल एवं शेष स्वर शुद्ध

** *'लक्ष्य संगीत'–मार्च १९५८ : पृष्ठ–९७*

संगीताचार्य कवि विद्यापति

संगीत के माध्यम द्वारा श्रीकृष्ण की लीलाभक्ति की एक विशेष साधना के उद्‌गमकर्ता महानुभाव भक्त-कवि जयदेव के पश्चात् विद्यापति को स्थान दिया जाता है। अष्टछाप (हवेली) घराने में जिन महानुभावों के पद गाये जाते हैं उनमें ऐतिह्य दृष्टि से प्रथम जयदेव का और दूसरा विद्यापति का नाम अंकित है।

विद्यापति का समय ईसा की १४ वीं शताब्दी का माना जाता है। ये बिहार तिरहर के राजा शिवसिंह के दरबार में थे। इस संबंध में "विद्यापति : एक अध्ययन" पृष्ठ ८ पर निम्न लिखित उल्लेख प्राप्त होता :—"ऊपर की तिथियों के अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि विद्यापति का रचनाकाल १४०५ ई. के लगभग आरंभ होकर ई. १४३८ (या मृत्युपर्यंत) चलता है। "कीतिलता" लिखते समय विद्यापति १८-२० वर्ष के तरुण अवश्य होंगे। अत: उनकी जन्मतिथि ई. स. १३७५–१३७७ के आसपास होगी। इस विवेचन के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति का समय १३७५ ई. है" ।*

कवि जयदेव के समान ही कवि विद्यापति भी रसिक कवि हैं। विद्यापति के अभिसारादि जयदेव से कुछ आगे भी बढ़ जाते हैं। तथापि जयदेव की "कोमल-कान्त पदावली" का प्रभाव विद्यापति पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। जहाँ विद्यापति मौलिक रहे हैं वहाँ जयदेव अद्वितीय रहे हैं। ऐसा कुछ विद्वानों का मतंव्य है।

विद्यापति की प्रसिद्धि में उनका पांडित्य, व्यक्तित्व, प्रतिभा, कल्पना-शक्ति, संगीत का ज्ञान तथा रसिकतादि गुणों का आकर्षण मुख्य है। इन गुणों से प्रभावित होकर राजा शिवसिंह ने विद्यापति को "अभिनव जयदेव" की उपाधि प्रदान की थी।

"विद्यापति वैष्णव थे। उन्होंने स्वयं भागवत की अपने हाथ से नकल की थी। यह पुस्तक अभी दरभंगा पुस्तकालय में है। 'हिंदीभाषा और साहित्य' नामक पुस्तक में बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा कि – "उन्हें यह रूप विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। × × विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है उस पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।"

विद्यापति की गेय रचनाएँ पर्याप्त संख्या में प्राप्त होती हैं। इन पदों में राधाकृष्ण की श्रृंगार लीला की भावना और भक्ति की साधना स्पष्ट दिखाई

---

* *लेखक– रामरतन भटनागर*

देती है। विद्यापति के पद सुंदर, स्निग्ध एवं भावपूर्ण होने से लोकगीतों की तरह लोगों के हृदयों को स्पर्श कर चुके थे। इन भक्तिमय पदों में प्रेम, मिलन, रूप-वर्णन, मान, अभिसार और रति-प्रसंगादि के वर्णन हैं। इस प्रकार के गीतिपदों में प्रेममय भक्ति की उत्कृष्ट भावना के कारण भक्तिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदायों में उनके पद-गान को आदरणीय स्थान दिया गया है।

इनकी पद रचना की चर्चा पं. लोचन के "रंगतरंगिणी" नामक संगीत के ग्रन्थ में भी पाई जाती है। कुछ वर्षों पूर्व "विद्यापति" फिल्म बनी थी। उस समय इनके गीतों की एक पुस्तिका "न्यू थिएटर" की ओर से प्रकाशित की गई थी, जिसकी भूमिका में निम्नलिखित विवरण है—

"बंगाल मां एमना गीतो वधारे प्रचलित छे, तेथी घणाओनुं एम मानवुं छे के तेओ बंगाली हता। पण आजसुधी जे–जे पदो अने कविताओ तेमनी बनालेली मली छे, ते बधी ज ब्रजभाषा मां छे। विद्यापति रसना कवि हता अने आजे पण तेमनां गीतो वैष्णव धर्मावलंबी प्रेम उत्साहथी गाय छे।"

केवल उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि उनकी सभी कविताएँ ब्रजभाषा में ही हैं। संस्कृत और मैथिली भाषा में भी रचनाएँ है। विद्यापति वैष्णव-भक्तकवि एवं संगीतज्ञ होने के कारण तथा राधाकृष्ण की विविध लीलात्मक भावना और रहस्यमय गेय पद पुष्टि सम्प्रदाय की लीला भावना से संबंधित मान कर उनके पदों को अष्टछाप (हवेली) सम्प्रदाय की परिपाटी में उचित स्थान दिया जाना असंभव नहीं है। कुछ लोग कोई अन्य विद्यापति होने की कल्पना करते हैं, किन्तु अधिकतर इन्हीं विद्यापति को मान्य करते हैं। उनके जो पद पुष्टि सम्प्रदाय की कीर्तन प्रणाली में पाये जाते हैं, उनमें क्वचित् मैथिल शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। अतः ये रचनाएँ १४ वीं शती के उत्तरार्ध और ई. १५ वीं शती के पूर्वार्ध के समय के विद्यापति की होना संभावित है।

पुष्टि सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में जो विद्यापति के पद प्राप्त होते हैं उनमें से उदाहरणार्थ कुछ पदों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। खंडिता-नायिका के भाव का श्रृंगारात्मक निम्नलिखित पद का कीर्तन संग्रहों में "खंडिता के पद, राग-रामकली" शीर्षक में दिये गये पदों में समावेश किया गया है। जो मंगला के दर्शन में एवं तत्पश्चात् के ओसरा में भी गाया जाता है—

भली कीनी भोर भये आये मेरे अंगना।
रैन के उनींदे नैना, आलस बलित बैना,
कुमुदिनी चित चैना, चंद बस्यो गगना॥
अधरन रंग नीको, काजर कपोल पीक
जावक लिलाट लीक, कहत गोपंगना॥
भुजनु बंदन फलि, कच हार उर फबि,

पीठ गड्यो कंगना ।।२।।
बसन सुहात नीले चिकुर छबीले
चरन परत ढीले निस कियो जगना ।
"विद्यापति" श्रीगोपाल, सुरति समें अति निहाल,
ताहिपै सिधारो लाल, जहाँ मन लगना ।।३।।

निम्नलिखित पद में भक्त ने अपने श्रृंगार रस के मनोभावों को प्रेमासक्ति के रूप में प्रगट किया है । सम्प्रदाय में यह पद 'हिलग' के पदों में सुप्रसिद्ध है। आसक्ति को 'हिलग' कहते हैं। हिलग के पद सम्प्रदाय की कीर्तन प्रणाली में शीतकाल में प्रबोधिनी के पश्चात् गुर्जर पौष मास तक के समय में राज भोग के दर्शन में गाये जाते हैं । विद्यापति का यह पद उसी समय में राग-आसावरी में गाया जाता है। कोई जागिया–आसावरी में भी गाते हैं।

"नयना माई नाँहिन करत कह्यो ।
कहा करूं कैसे नहिं छूटें जो हठ हरखि गह्यो ।।
आवत हुती सहज मग अपने, चपलनि उलट तह्यो ।
निगम सरूप धाय खन* अपने, लोभित चाहि लह्यो ।।२।।
जो व्रत लियो प्रथम ही निरखत, अंतहुसों निबह्यो ।।
"विद्यापति" श्रीगोपाल सदा इन अँखियन लागि रह्यो ।।३।।

वल्लभ सम्प्रदाय में वसन्त पंचमी से दस दिन तक प्रत्येक दर्शन में वसन्त राग ही गाया जाता है । इन वसन्त वर्णन के पदों में भी विद्यापति का निम्नलिखित पद देखिए—

"नव वृंदावन नव-नव तरुगन, नव-नव विकसत फूल ।
नवल वसंत नवल मलयानिल, मातल नव अलि फूल ।।**
†.....नवल रस माते, बिहरइ नवल किसोर ।
कालिंदी पुलिन कुंज बन सोभन, नव-नव प्रेम विभोर ।।२।।
नवल रसाल मुकुल मधु मातल, नव-नव कोकिल गाय ।
नव जुवतीगन चित उनभलई, नव रस कानन धाय ।।३।।
नव जुवराज नवलपर नागरि, मिलए नव-नव भाँति ।।
नित नित†† एसन नव-नव खेलत, विद्यापति मति भाति ।।४।।

** "खन" शब्द मैथिली है। जिसका अर्थ "क्षण" होगा।*
ब्रजभाषा में "छिन" शब्द का प्रयोग किया जाता है।

*** "मातल" शब्द भी व्रज का नहीं है।*

† जिस प्रति में हमें यह पद मिला है, उसमें इस स्थान पर एक दो शब्दों की त्रुटियां दिखाई देती है।

†† "एसन" शब्द को ब्रजभाषा में "असेई" कहते हैं।

वसंत राग के पद-गान के पश्चात् होरी के दिनों में गाये जाने वाले होरी-धमार के पदों में भी विद्यापति का निम्नलिखित पद देखिए—

राग जेत श्री

"श्री राधा नवल किसोर डोलै गुजरी ।
संग लिये सकल ब्रजवनिता, अति रस रंग भरी ॥१॥
कानन करन-फूल नक-बेसर, मोतिन मांग भरी ।
अधर कपोल नैन मृग खंजन, सब हिमतें अगरी ॥२॥
मुक्तामाल चोकि हमेल, खगवारी पर हुलरी ॥
अंगियां बनी रायकी, मानों जोबन रंग भरी ॥३॥
सुवन-पटा की ओढनी और ओढि ता पर इंडुरी ।
कनक मटुकियां सिर धरें, बाबानंद के द्वारा खरी ॥४॥
"विद्यापति" बरनें कहाँ लौं, अंग-अंग संथरी ।
कोकिला बचन संपुट खुले, मानों फूली कमल कली ॥५॥

उपर्युक्त पद पंचम-गृह की प्रणाली में फागुन शुक्ल ४ को गाये जाने का उल्लेख है।* "जेतश्री" अथवा "धनाश्री" राग में अधिकतर सुनने में आता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य पद भी पाये जाते हैं।

चंडीदास और नामदेव

भक्त कवि विद्यापति के समय के बंगाल के भक्त चंडीदास, एवं दक्षिण के भक्त नामदेव के नाम भी कीर्तन-गान पद्धति में उल्लेखनीय है। "नामदेवाची-गाथा" नामक कीर्तन संग्रह में श्रीकृष्ण की बाललीला के भी अभंग दिखाई देते हैं। चौबीस नामावतारों की स्तुतियों के उपरान्त राधा सहित श्रीकृष्ण नहीं किन्तु "रुक्मिणी—श्रीकृष्ण" की लीला का गान है। श्रीकृष्ण को विट्ठल तथा पांडुरंग नाम से संबोधित करते हुए लोक भाषा में उनका चरित्र-गान किया है। इसके चौबीस अवतारनाम भी भागवत-वर्णित अवतारों से भिन्न हैं। ईस्वी चौदहवीं शताब्दी के इन भक्तों के भक्ति गान अष्टछाप परंपरा की प्रणाली में नहीं होने से इनका उल्लेख ही पर्याप्त होगा।

भक्त नरसिंह

इसके अतिरिक्त गुर्जर भक्ति-कवि "नरसिंह" का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। भक्त नरसिंह का समय भी ई. स. १४१६ से १४७५ तक माना

---

* *देखिए—"अनुग्रह" वर्ष ३७, अंक २, पृष्ठ—२६ ।*

जाता है। पुष्टिमार्गीय संगीत के पद-गान के आरंभ समय से लगभग ५० वर्ष पूर्व उन्होंने श्रीकृष्ण की लीला के भावात्मक पदों का संगीत की शास्त्रीय राग रागिनियों में गान किया है। इस प्रकार के सैकड़ों पदों की उनकी रचना विविध रागों में सुप्रसिद्ध हो चुकी है। उनके पद विशेषत: निम्न रागों में पाये जाते हैं—

(१) प्रभाती, (२) वेलावल (बिलावल), (३) टोडी, (४) आसावरी, (५) रामग्री, (६) सामेरी, (८) वसंत, (८) मल्लार, (९) मारू, (१०) श्री, (११) केदारो, (१२) मालव, (१३) कालेरो*

भक्त नरसिंह रचित कुछ पद पुष्टि सम्प्रदाय के कतिपय कीर्तन संग्रहों में मिलते हैं। किन्तु सम्प्रदाय की कीर्तन- प्रणाली में इन पदों का गान नहीं किया जाता है। संभव है गुजरात में पुष्टि भक्ति मार्ग का प्रचार होने पर गुजरात के मुख्य मंदिरों के आचार्यों ने सेवाक्रम की प्रणाली के पश्चात् अनवसर में जगमोहन या चौक में इनका गान आरंभ किया हो और पसंदगी के पदों को अपने संग्रह में लिखवाया हो । ये पद सेवाक्रम के कीर्तनों के साथ में नहीं किन्तु संग्रह के पिछले या पहिले के कुछ पन्नों पर दृष्टिगोचर होते हैं। तथापि सम्प्रदाय की षष्ठ पीठ '(सुरत) की कीर्तन प्रणाली में आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को श्रीबालकृष्ण जी के पाटोत्सव के दिन राजभोग के दर्शन में बधाई और आसीस का "तिहारो घर सुबस बसो" यह कीर्तन पूर्ण होने के बाद नरसिंह मेहता के निम्नलिखित दो पद गाये जाते हैं।**

राग प्रभाती

"कुंका ने पगले पधारो वहाला कुंकाने पगले ।
समसमता मोहनजी आव्या दडसडते डगले ॥१॥

× × ×

दूधडो मेह वरस्या "नरसैया" ने आंगणडे सघले ।
साकर केरा करा पड्या त्यारे रस बाव्यो ढगले ॥‡

राग प्रभाती

"दिवली अजवाली आज मारे दिवली अजवाली ।
घणारे दिवसनो ताप निवार्यो, हुं तो प्रेमे बोलावी लावी ॥१॥
"नरसैयो" ना स्वामी एटलुं मांगुं, मारा मंदिर थकी नव जइए ॥४॥

---

* *"कालेरो" नामक राग का उल्लेख अन्यत्र कहीं प्राप्त होता नहीं है। हमारे ख्याल से "कान्हरो" राग का अपभ्रंश एवं परिवर्तित नाम होना संभावित है। अथवा स्थानिक कोई राग है।*

** *सुरत के घर की कीर्तन प्रणालिका–पृष्ठ २२, ८०*

‡ *यह पद माधव पुर छेड़ में श्रीरुक्मिणी, कृष्णविवाह की बरात वापस लौटती है तब मंदिर के नजीक पदों के पूर्व गाया जाता है।*

नरसिंह के भक्ति-प्रवाह के मूल में श्रीमद्‌भागवत पुराण और भक्ति-गान के प्रवाह में 'गीतगोविंद जैसे काव्य-गान की स्पष्ट छाया दिखाई देती है। उन्होंने एक पद में जयदेव का उल्लेख भी किया है।* उनके अनेक पदों में प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रवाह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। उन्होंने तत्कालीन संगीत के रागों में "कृष्ण जन्म के पद, वसंत के पद, शरदोत्सव के पद, हिंडोला के पद, मलार के पद इत्यादि लीला के पदों का गान किया है। उनके बहुत से पद अष्टछाप के पदों की भावना से मिलते हुए दिखाई देते हैं। तथापि अष्टछाप परंपरा की कीर्तन प्रणाली में उनका स्थान न होने के कारणों में मुख्यतः दो कारण हमारी दृष्टि से दिखाई देते हैं। (१) सम्प्रदाय में एक मर्यादा स्पष्ट दिखाई देती है कि सेवा-प्रणाली से संबंधित सभी पद कीर्तनों की मुख्य भाषा व्रजभाषा तथा क्वचित् संस्कृत है। संस्कृत देव-भाषा मानी जाती है और भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म एवं उनकी लीलाओं का स्थल व्रजमंडल है। अतः संस्कृत और व्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के पदों को स्थान प्राप्त न होना संभावित है। (२) सम्प्रदाय में ऐसी भी एक मान्यता है कि नरसिंह ने विपत्ति आने पर भगवान् को बार-बार परिश्रम दिया है। भगवान् को किंचित् भी परिश्रम हो इस प्रकार की सेवा या प्रार्थना करना सम्प्रदाय के सिद्धांत के विरुद्ध होने से उनके पदों को पुष्टि-कीर्तन गान में स्थान दिया गया नहीं है। हमारी मान्यतानुसार पहिला कारण विशेष महत्व का है। पुष्टि-सम्प्रदाय-मान्य भागवत पुराणानुसार भगवान् की भावात्मक लीलाओं की झांकी नरसिंह की पद रचनाओं में तथा राग-रागिनियों में भी अष्टछाप के समान है। अष्टछाप परंपरा के पद-गान के आरंभ से पूर्व इस प्रकार के भक्ति गान की भूमिका नरसिंह में ही पाई जाती है, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

रामानंद

ईसा की १४ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विशिष्ठाद्वैतवादी रामानुजाचार्य के अनुयायी राघवानंद के शिष्य संत रामानंद का जन्म प्रयाग में हुआ था। वे कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने रामानुज के नियमों से अलग हो कर सर्व वर्णों के लिए भक्ति के समान अधिकार का समर्थन किया और संस्कृत के स्थान पर जन भाषा में ही उपदेश दिया । आपने श्री राम की पूजा-अर्चना का पंथ चलाया। उनके शिष्यों में स्त्री शूद्रादि का भी समावेश है । जिनमें कबीर जुलाहा, पीपा राजपूत, धन्ना भगत (जाट) तथा रैदास चमारादि शिष्य सुप्रसिद्ध हैं।

---

* *एक जाणे छे व्रजनी गोपी के रस जयदेव पीधो रे ।*
उगतो रस अवनी ढलता, "नरसैये" ताणीनें लीधो रे ।। (न. काव्य संग्रह)

कबीर

रामानंद पंथ के अनुयायी संत कबीर ने अपनी वाणी में राम नाम महिमा, गुरुमहिमा, वैराग्य, जीव-शिव की एकता, माया इत्यादि विषयों का तत्कालीन प्रसिद्ध रागों में लोक भाषा में उपदेशात्मक रूप में खूब प्रचार किया। इनकी पद-रचना में मधुरता और प्रेममय भक्ति भी है। वे रामानंद के शिष्य थे किन्तु उनके काव्यों में सम्प्रदाय विशेष का स्पष्ट असर दिखाई देता नहीं है।

संगीताचार्य गोपाल नायक

गोपाल नायक जाति के ब्राह्मण थे। उनका समय ईसा की १३ वीं शती का अंत भाग और १४ वीं का प्रथम चतुर्थांश भाग माना जाता है। अमीर खुसरो के साथ उनकी संगीत प्रतियोगिता का उल्लेख मिलता है। विश्वसनीय प्रमाणों का अभाव होते हुए भी इस घटना को ऐतिह्य कहा जाता है। सुलतान अल्लाउद्दीन ने ई. स. १२९४ में दक्षिण पर चढ़ाई की थी। कुछ समय बाद उनके मोगल सरदार मलिक काफ़ूर ने पुनः चढ़ाई कर दक्षिण का प्रदेश ई. स. १३१० में जीत लिया और देवगिरि (आज का दौलताबाद) के यादव-वंश का नाश किया। उस समय के राजा रामदेव यादव का आश्रित गोपाल नायक था। अल्लाउद्दीन के शाही लश्कर के साथ गोपाल नायक एवं अन्य गायक वर्ग तथा पंडितों को भी उत्तर में ले जाया गया।

उस समय दक्षिण में संगीत की स्थिति उत्तम प्रकार की थी और संगीत के विद्वानों में गोपाल नायक सम्मानित माने जाते थे। "रत्नाकर" के टीकाकार पं. कल्लीनाथ ने तालाध्याय की टीका में कुडुवक ताल की व्याख्या में गोपाल नायक का उल्लेख किया है।* जिससे प्रमाणित होता है कि संगीत के विद्वानों में गोपाल नायक ने अग्रस्थान प्राप्त किया था। दिल्ली में या अन्यत्र जाने का प्रसंग उपस्थित होता था, तब कहा जाता है कि उनकी गाड़ी के बैलों के गले में इस प्रकार की घंटिकाओं का हार पहिनाया जाता था जिनमें से समयानुसार राग-वाचक स्वरों की सुरावली उत्पन्न होती थी। गोपाल नायक के प्रति अमीर खुसरो के हृदय में अपूर्व मान था, क्योंकि वह अपने मन में समझता था कि छल-कापट्य से ही गोपाल नायक पराजित हुए थे। यह प्रसंग अमीर खुसरो के विवरण में दिया जाएगा।

संगीतकार अमीर खुसरो

ईसा की ११ और १२ वीं शती से उत्तर भारत में मुस्लिम बादशाहों के आक्रमण से हिन्दु राज्यों का पतन आरंभ हो चुका था। उस समय अमीर

---

* *कुडुवकतालस्तु गोपालनायकेन रागकदम्बेरेव गुप्तवद्‌प्रयुक्तः। सं. र. ठीका, आनन्दाश्रम आवृत्ति पृ. ४३३*

खुसरो के पूर्वज खुरासान से भारत में आकर एटा जिले के पटियाली करचा में रहते थे। खुसरो का जन्म ई. १२५३ में उसी स्थल में हुआ था। इनके पिता का नाम अमीर महम्मद सैफुद्दीन था। खुसरो प्रथम तत्कालीन गुलाम घराने के दिल्लीपति गयासुद्दीन बलवन के आश्रय में रहा, पश्चात् बलवन के पुत्र शाहजादा मोहम्मद सुलतान की नौकरी में रहा। चतुर और बुद्धिमान खुसरो साहित्यकारों, संगीतकारों एवं कविजनों के संपर्क में आकर काव्य और संगीत की महफिलों में भाग लेने लगा और उसने शीघ्र ग्रहणशक्ति और बुद्धिमत्ता से उत्तम गायक की योग्यता प्राप्त कर ली । बाद में वह अल्लाउद्दीन खिलजी के दरबार में गायक रहा।

कहा जाता है कि खिलजी के दरबार में बारंबार संगत के जल्से होते रहते थे, और प्रत्येक जल्से में खुसरो एक नई ग़ज़ल बनाकर सुनाता था। मुलतान से युद्ध-कैदियों के साथ आये हुए दरबारी संगीतज्ञ और कवि भी काव्य-संगीत के दरबारी जल्से में भाग लेते थे। अमीर खुसरो सर्वोच्च कोटि का संगीतज्ञ, कवि और गायक था। फारसी साहित्य में उन्हें उच्चकोटि का स्थान दिया गया है। कहते हैं कि उसने संगीत का एक ग्रन्थ भी लिखा था, किन्तु अभी तक वह अप्राप्य है।

खुसरो की श्रवण और स्मरण शक्ति की यह विशेषता थी कि भारतीय रागों को एक बार सुनकर उसी तरह का फारसी गान तैयार कर सुना सकता था। इसी शक्ति के आधार पर उन्होंने दक्षिण भारत के उच्चतम गायक गोपाल नायक को स्पर्धा में हरा दिया था। कहा जाता है कि खुसरो ने अल्लाउद्दीन को समझाकर उनके सिंहासन के नीचे छुप कर गोपाल नायक का गान सुनने का प्रपंच किया। इस प्रकार छः दिन तक गोपाल नायक ने दरबार में अपना संगीत सुनाया, और खुसरो ने सिंहासन के नीचे छुपकर बराबर सुना। पश्चात् खुसरो ने स्वयं उपस्थित हो कर गोपाल नायक को स्पर्धा के लिये आवाहन किया। दरबार में स्पर्धा का आयोजन हुआ। उस दरबार में गोपाल नायक ने गाना आरंभ किया। जब उसका गायन जम रहा था उसी समय उसे रुक जाने का शाही आदेश प्राप्त हुआ और कहा गया कि आपके गायन में कोई नवीनता नहीं है। तब गोपाल नायक ने अपना गाया हुआ संगीत पुनः गाने का खुसरो को आव्हान दिया और खुसरो ने तुरंत ही उसी प्रकार भारतीय संगीत का फारसी में गान सुनाया। इस इस प्रकार दरबार में खुसरो की जीत छल-कपट की युक्ति द्वारा हुई और नायक गोपाल पराजित घोषित किये गये ।

फारसी और भारतीय संगीत के आधार पर खुसरो ने साजगिरि एमन, जीलफ, शहाना, सरपरदा इत्यादि नये रागों की रचना भी की है। तदुपरान्त भारतीय वीणा के आधार पर "सहतार" की रचना की। जिसमें वीणा के चार के स्थान पर तीन तार लगाये और तारों का क्रम उल्टा दिया, तथा जो पर्दे अचल थे, उन्हें चल कर दिया । फारसी में "सह" का अर्थ "तीन" होने के कारण

इस वाद्य का नाम "सहतार" रखा गया। इस वाद्य वीणा की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होने लगा । आगे चलकर सितार का रूप कुछ बदलता रहा, आज हमारे समक्ष सात तार का सितार दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार उन्होंने पखवाज को भी बीच में से दो भाग (टुकड़े) कर उसको अलग-अलग बनाकर 'तबले' का आविष्कार किया।

लाहौरी के "बादशाहनामा" में खुसरो की भारतीय संगीत को देन विषय के उल्लेखों में लिखा है कि:—"मुसलमानों के उदय के पहले भारतीय संगीत में गीत, छंद, धुरू* और अस्तुत** होते थे । ये सब राग कर्णाटक की भाषा में होने के कारण उत्तर भारत के लोग उन्हें नहीं समझ सकते थे। और खुसरो ने गाने के चार नये तरीके निकाले (१) कौल (जिनमें फारसी और अरबी शब्द होते थे और गाने का ढंग भारतीय गीतों की तरह होता था) (२) तराना, (३) कव्वाली (परशियन और भारतीय शैली मिश्रित एक गान पद्धति) (४) ख्याल, (ये एक प्रकार के हिन्दुस्तानी भाषा के गीत होते थे।)

इस प्रकार तराना, ख्याल और कव्वाली के आविष्कर्ता होने का श्रेय खुसरो को है। सुलतान अल्लाउद्दीन खिलजी को संगीत का शौक था। उन्होंने इस कला को प्रोत्साहन दिया था। मुस्लिमों के आने के पश्चात् संगीत को राज्याश्रय देने वालों में इस सुल्तान का नाम प्रथम पंक्ति में माना जायगा। किन्तु दिल्ली दरबार अपने आतंक से भारतीय संगीत को जितना प्रभावित करना चाहता था उतना भारतीय संगीत के तत्त्वों से सुपरिचित होने के लिये उसका आग्रह नहीं था।

सूफी परंपरा में संगीत को अवश्य ग्रहण किया गया है किन्तु उनकी शैली में भी विदेशी आवरण छाया हुआ था । इस काल में भारतीय एवं अभारतीय रागों का संमिश्रण हुआ भावी पीढ़ियों के लिये यह प्रवृत्ति एक संक्रामक रोग बन गई ।

---

* ध्रुव

** स्तुति

भक्तिमार्गीय चतु : संप्रदायों का उद्भव और भक्ति-प्रचार

हवेली-संगीत में मान्य भक्त गायकों में जयदेव से लेकर विद्यापति के समय तक आचार्यों द्वारा भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार हो चुका था । इन भक्तिमार्गीय चतु:सम्प्रदाय के आचार्यों, इनके सिद्धान्तादि एवं भक्तिभावात्मक विचारों की ओर दृष्टि करना आवश्यक है।

कालक्रम की दृष्टि से इन चार आचार्यों में प्रथम, द्वितीयादि क्रम के विषय में मतभेद पाये जाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि ईसवी १० या ११ वीं शती से लेकर १३ वीं शताब्दी तक के समय में चारों आचार्यों द्वारा अपने-अपने सिद्धान्तानुसार चारों सम्प्रदायों की स्थापना की जा चुकी थी। यही नहीं भारत के कई प्रान्तों में इन सम्प्रदायों के प्रचार और प्रसार के कारण सैकड़ों अनुयायियों द्वारा भक्ति-मार्गीय प्रेम-प्रवाह की धाराएँ जन-समाज में प्रवाहित हो रही थीं।

डॉ. भांडारकर के मतानुसार निम्बाकाचार्य के पहिले रामानुज का प्राकट्य माना गया है। इस मतानुसार रामानुज का समय ई. स. १०१७ से प्रारंभ होता है। रामानुज के पूर्व इस सम्प्रदाय में यामुनमुनि, नाथमुनि और तत्पूर्व के बोधायनादि आचार्य भी हो गये हैं, ऐसी मान्यता है। इन आचार्यों के परंपरागत उपदेशों और ग्रन्थों के आधार पर रामानुज ने अपना मत स्थापित किया, यह कहा जाता है ।

रामानुज द्वारा लिखा हुआ "श्रीभाष्य" है तदनुसार उनका मत विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। उन्होंने तिरुपति में गोविंदराज का मंदिर बनवाया था। कहा जाता है कि श्री रामानुज ने ४००० प्रबन्धों का संग्रह भी करवाया था। रामानुज ने लक्ष्मीजी सहित भगवान् के पाँच रूप बताये हैं। जिनमें पहिला रूप भगवान नारायण-परब्रह्म जो वैकुंठ में शेष की शय्या पर शंख, चक्रादि धारण किए हुए चतुर्भुज स्वरूप हैं कर्म, ज्ञानादि मोक्ष के उपाय, भक्ति द्वारा ही उपयोगी होने के कारण उन्हें, गौण साधन माना गया है। उनका उपदेश मन्त्र "नमो नारायणाय" है। उनकी भक्ति का स्वरूप प्रेम की अपेक्षा ध्यान-उपासना से ज्यादा निकट है। तथापि इन ध्यानोपासना में प्रेम अन्तर्भूत माना गया है। उनके तिलक चिह्न में ललाट में श्वेत मिट्टी की दो लकीरें खींच कर नीचे की ओर उन लकीरों के संधान के लिए बीच में एक लकीर बनाई जाती है । श्री रामानुज ने गद्यात्मक भक्ति ग्रन्थों के अतिरिक्त न्यायतत्त्व श्रीभाष्य, दीपसार, वेदार्थसंग्रह, भाष्य-विवरण, न्यायसुदर्शन

तथा संगीत-माला इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें "संगीत-माला" ग्रन्थ "भक्ति-संगीतमय" होना संभावित है।*

रामानुज के पश्चात् डॉ. भांडारकर के मतानुसार निम्बाकाचार्य का समय ई. स. ११६४ तक का माना गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीमद्निम्बार्काचार्य का प्राकट्य बेलारी जिले के नीम्बपुर ग्राम में वै. शु. ३ के दिन हुआ था। उनका मत द्वैताद्वैत (भेदाभेद) है। रामानुज ने लक्ष्मी सहित नारायण की उपासना-ध्यानादि-भक्ति का उपदेश दिया और निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा सहित श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति को वरेण्य कहा गया। श्रीकृष्ण की भक्ति के संबंध में कहा है कि "ब्रह्मा और शिव से वंदित श्रीकृष्ण के पदारविंद के सिवा अन्य कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। श्रीकृष्ण भक्त की इच्छानुसार ध्यान-गम्य रूप धारण करते हैं। इनकी शक्ति अचिन्त्य और तत्त्व दुर्ज्ञेय है। परब्रह्म श्रीकृष्ण के वाम अंग में विराजित आनंदमय देवी वृषभानुजा श्रीराधाजी का हम स्मरण करते हैं; जो श्रीकृष्ण के ही स्वरूप सौन्दर्य जैसी हैं और हजारों सखी-गणों के समूह से आवृत्त एवं सर्व प्रकार की इष्ट कामनाओं को परिपूर्ण करने वाली हैं।**

दशश्लोकी के श्लोक ९ में कहा है कि "जिनमें दैन्यादि गुण होते हैं उन्हीं पर श्रीकृष्ण परमात्मा की कृपा होती है। इस कृपा से अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होती है। इस भक्ति के दो प्रकार हैं—१. साधनरूप और २. फलरूप। साधन रूप भक्ति अनेक जन्मों के पुण्य से उत्पन्न होती है और कर्म-योगादि भगवद् आज्ञा के पालन से भगवान् प्रसन्न होकर जिस भक्ति का दान करते हैं उसे फलरूप अथवा पराभक्ति कहते हैं।

इस सम्प्रदाय में यह भी कहा गया है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि में आत्मबुद्धि तथा श्रुति स्मृति आदि भगवदाज्ञा की उपेक्षा, अन्य देवों का अर्चन-वन्दन और गुरु में अविश्वास भगत्प्राप्ति में प्रतिबंधक हैं। रामानुज और निम्बार्क की भक्ति में मुख्य भेद यह है कि रामानुज की भक्ति ध्यान रूप है और निम्बार्क की भक्ति प्रेमलक्षणा है।

निम्बार्क के अनुयायी दक्षिण, उत्तर भारत और बंगाल में अधिकतर दिखाई देते हैं। गृहस्थी और त्यागी दोनों प्रकार के अनुयायी हैं। इस सम्प्रदाय के तिलक में ललाट में गोपीचंदन की दो लकीरों के बीच में श्याम बिन्दी दी जाती है। गले में तुलसी की माला भी धारण करते हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य मंदिर "वृन्दावन" में है।

---

* लेखक को यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ नहीं है। "श्री निवासदास कृत" यतीन्द्रमतदीपका" में और भी ग्रन्थों के नाम प्राप्त होते हैं।

** दशश्लोकी श्लोक ४, ५ और ८, (हरि व्यास की दशश्लोकी टीका)

मध्व सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य का जन्म ई. स. ११९९ (संवत् १२५५) में दक्षिण के कर्नाटक प्रान्त में "उडीपी" तालुके में हुआ था। उन्होंने भक्तिमार्गीय द्वैतवाद पसंद किया और अद्वैतवाद को सर्वथा त्याज्य मान कर तिरस्कृत किया है। रामानुज और निम्बार्क ने "विष्णुपुराण" को प्राधान्य दिया है, किन्तु मध्वाचार्य ने भागवतपुराण को प्राधान्य दिया है। इनके भाष्य को "पूर्णप्रज्ञ" भाष्य कहते हैं। उन्होंने मोक्ष के साधन में दो प्रकार की उपासना का उल्लेख किया है—शास्त्राभ्यास रूप और ध्यान रूप। अन्य वस्तु मात्र का विचार दूर करके और भगवान् में अखंड स्मृति रखने को ध्यान एवं निदिध्यासन कहा है। ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष परमात्माधीन माने गये हैं। प्रभु के प्रति प्रेम-प्रवाह से युक्त भक्ति परम-भक्ति है। इस भक्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवत्कृपा से प्रकृति, अविद्या इत्यादि बन्धनों से मोक्ष होता है। वैकुंठ में मुक्त-जीव सालोक्य सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य, ऐसे चार प्रकार के भोगों का उपभोग करते हैं किन्तु यह सर्व ईर्ष्यादि दोषरहित एवं अतिशय आनंदयुक्त होने से मुक्त जीव आनंदयुक्त हो कर वहाँ भी भगवान् के गुणगान किया करते हैं।

इस सम्प्रदाय के दक्षिण प्रदेश में आठ मठ हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी विशेषत: कर्णाटक और मैसूर प्रान्त में, वृंदावन में और उत्तर भारत में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस सम्प्रदाय के तिलक में नाक के ऊपर के से लेकर ललाट में दो लकीरें गोपीचंदन से की जाती हैं। जिनको आड़ी लकीर से नाक पर जोड़ देते हैं तथा बीच में आड़ी श्याम लकीर और लाल बिंदी भी करते हैं।

आचार्य विष्णुस्वामी का जन्म कोई विद्वान् १० वीं शताब्दी का कहते हैं। कोई विद्वान् नाभाजी कृत भक्तमाल के आधार पर १३ वीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। विष्णुस्वामी सम्प्रदायान्तर्गत आचार्य परंपरा की दृष्टि से श्रीमद् वल्लभाचार्य माने जाते हैं। "फर्कुहर" ने विष्णुस्वामी के मठ-मंदिरों की चर्चा करते हुए "एक कांकरौली और दूसरा कामवन का उल्लेख किया है।‡

महाराष्ट्र में भागवत धर्म के प्रचार में वारकरी नाम से जो सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ उसे विष्णुस्वामी मतावलंबी माना जाता था। उसके ही अनुयायियों में भक्त ज्ञानदेव, नामदेवादि भक्त गण भी विष्णुस्वामी–मतावलंबी माने जाते हैं। विष्णुस्वामी की भागवतादि धर्म भक्ति का उस समय प्रचार महाराष्ट्र की ओर अधिकतर दिखाई देता था। लोकभाषा में कीर्तन गान की प्रथा में महानुभाव संप्रदाय के स्थापक चक्रधर और वारकरी सम्प्रदाय के संत नामदेव का महाराष्ट्र में स्थान प्रथम है।

---

‡ *Farquaher, An outline of the Religious Literature of India-Page*-304.

ईसा की ११ वीं शती से १३ वीं शताब्दी तक उपर्युक्त चारों आचार्यों द्वारा चतुः साम्प्रदायिक भक्ति का भारत की चारों दिशाओं में प्रचार हो चुका था। आचार्यों ने शास्त्रों द्वारा अपने-अपने, सिद्धांतानुसार भक्तिमय उपदेश देकर उच्च-वर्णों में एवं संस्कृत समाज में भक्ति-मार्ग को जो सिंचन किया, वह सुप्रसिद्ध है। दूसरी ओर हिन्दू समाज की सामान्य जनता में भक्ति भावना का प्रसार भक्त-गायक जयदेव के पश्चात् भक्तों संतों ने लोकभाषा में कीर्तनादि भक्ति-गान द्वारा भारत के विविध प्रान्तों में भक्ति संदेश को पहुँचाया। जिसे लोगों ने भी अपनाया। फलतः अनेक भक्तों ने भाषा द्वारा भगवत्-कीर्तन—गान में मग्न होकर अपने जीवन को धन्य बनाया। इस प्रकार संगीत के माध्यम से भक्ति का प्रसार होने में बहुत कुछ सरलता एवं सहजता होने से भक्तों की परंपरा समृद्ध होने लगी।

भक्ति का नवोत्थान

ईसा की ११ वीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रमणोंकारियों का उत्तर भारत पर आक्रमण हुआ। तब से हिन्दू राज्य-सत्ताओं का धीरे धीरे पतन होने लगा।

विभिन्न वंशों के मुस्लिम आक्रमणकारियों ने दिल्ली को राजधानी बनाया और देश पर शासन करने लगे। ईसा की १५ वीं शताब्दी में और उसके उत्तर काल में भारतवर्ष की दुर्दशाजनक परिस्थिति दृष्टिगोचर होती है। हिन्दुओं के लिए यह अशांति, असन्तोष और यातनामय समय था। लोदी वंश के शासनकाल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उस समय हिन्दू जनता जाहिर में शान्तिपूर्वक धार्मिक उत्सवों एवं समारंभों को संपन्न नहीं कर सकती थी। यही नहीं हिन्दू मंदिरों और मूर्तियों का खंडन भी सामान्य हो गया था। बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी स्वयं कठोर और क्रूर व्यक्ति थे। उन्होंने हिन्दू जनता पर जजिया कर लगाया। उनकी धर्मान्धता प्रसिद्ध हो चुकी थी। हिन्दू बलपूर्वक मुसलमान बनाये जाते थे।

बादशाह बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी का राज्यकाल ई. स. १४५१ (सं. १५०७) से १५०७ (वि. सं. १५७३) तक का माना गया है। तुगलक, सैयद, लोदी एवं मोगल खानदानों की धर्मान्धता नीति के कारण क्रूर और पक्षपातपूर्ण रही थी। शेरशाह सूरी और फिरोज तुगलक ने अपनी नीति में सामाजिक दृष्टि से जो कुछ परिवर्तन किये, उससे हिन्दू जनता पर स्वस्थ प्रभाव पड़ा था। किन्तु उनके पहिले बाबर और हुमायूं ऐसा कोई कार्य नहीं करने के कारण हिन्दुओं में विश्वास, सद्भाव और निर्भयता उत्पन्न नहीं कर सके।[*]

श्रीमद् वल्लभाचार्य के समय के आसपास लगभग अर्धशताब्दी के दरम्यान कम से कम सात-आठ शासक दिल्ली पर शासन कर चुके थे। संघर्ष और युद्ध के उस घातक काल में भक्तिमार्ग के अभ्युत्थान के साथ भक्ति द्वारा मनन, चिंतन और प्रसार करना सामान्य और सहज कार्य नहीं था। राजनीति के विषादयुक्त वातावरण में भी साधुवृत्ति के चिन्तकों ने बाह्य संघर्ष से दूर रहने में ही अपना हित मानकर भगवान् की आराधना में ही अपना कल्याण समझा था। उनके ग्रन्थों में राजनीति का वर्णन नहीं के बराबर है। लेकिन श्रीमद् वल्लभाचार्यजी के "कृष्णाश्रय" ग्रन्थ में देश की पीड़ित अवस्था का संकेत प्राप्त होता है। जिनमें प्रतिकूल समय की भयानक परिस्थिति एवं[†] मुसलमानों के आक्रमण का भी संकेत किया है। इस अवस्था में श्रीकृष्ण का ही आश्रय और उनकी शरण में आने को ही कर्तव्य कहा है।

---

[*] *History of Medieval India, Dr. Ishwariprasad.*

[†] म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु (कृष्णाश्रय ग्रन्थ)

ब्राह्मण अर्थलोभी एव वैश्य कापट्य से धनसंचय में लगे हुए थे। राजा निरंकुश हो गये थे। धार्मिक प्रवृत्ति में मुख्यत: देहदमन युक्त क्रियाएँ ही आदर्श मानी जाने लगी थीं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति केवल अतितामस प्रधान हो गई थी। फलत: मंदिरों एवं धर्मस्थानों का रक्षण, माँबहिनों की इज्जत, आचार-विचार का पालन आदि सात्विक कार्यों की परंपरा स्थगित सी हो गयी थी। इस समय में भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार करने या धार्मिक प्रवृत्ति में नव उद्गम करने का अति विकट कार्य विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के आचार्यों, भक्तों एवं संत-महंतों ने किया। भक्तिधारा का प्रवाह बहाकर परमात्मा के निराकार-साकार तत्त्व के भजन-कीर्तन को महत्व देकर अखंड सुख की प्राप्ति का मार्ग दिखाकर उन्होंने समाज को जागृत किया।

हम देख चुके हैं कि पूर्वाचार्यों एवं उनके अनुयायियों के उपदेशों द्वारा तथा जयदेव, विद्यापति तथा चंडीदासादि भक्त-कवियों के भक्ति-गान द्वारा तीन-शतक पूर्व ही चतु:सम्प्रदायों की भक्ति का बीजारोपण एवं उद्भव हो चुका था किन्तु तत्पश्चात् विषादमय राजकारणों से उस भक्ति-बीज के अंकुर लुप्तप्राय होने की स्थिति बनने पर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी, श्रीमद्हरिदास-स्वामी, श्रीकृष्ण-चैतन्यप्रभु, श्रीमद्हितहरिवंशादि आचार्यों का प्राकट्य हुआ। और उनके शिष्य-गण "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" इस भगवद्–वाक्य के आधार पर इन आचार्यों को भगवदावतार मानने लगे। इन आचार्यों के प्राकट्य से चतु:सम्प्रदाय की भक्ति के बीजांकुरों को भक्ति-पथ की भारतीय विचारधाराओं से पोषण-मिला और धीरे-धीरे भगवत्-भक्ति वृक्ष पल्लवित-पुष्पित-फलित हुआ।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती के भक्ति-संप्रदायों की भक्ति एवं संगीत के विषय में चर्चा करने का पूर्व इन संप्रदायों के प्रवर्तकों का ऐतिह्य क्रम से परिचय देना उचित होगा।

श्रीमद् वल्लभाचार्य

श्रीमद्वल्लभाचार्य का प्राकट्य विक्रम संवत् १५३५ (ई. स. १४७९) में हुआ था। (कोई वि. सं. १५२९ में प्राकट्य मानते हैं) श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित मार्ग को पुष्टिमार्ग या संप्रदाय कहते हैं। जो वल्लभ सम्प्रदाय के नाम से भी प्रचार में है। इस सम्प्रदाय को विष्णुस्वामी सम्प्रदायांतर्गत कहा जाता है। किन्तु कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि इस सम्प्रदाय में किन्हीं अन्य आचार्यों की विचार-परंपरा का प्रभाव नहीं है। वास्तव में आचार्य श्री वल्लभ स्वयं स्वतंत्र चिंतक थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा और मेधा द्वारा नवीन दृष्टिकोण से पुष्टि-सम्प्रदाय का निर्माण किया था। ऐसा भी कहा जाता है कि श्री वल्लभाचार्यजी के पिता लक्ष्मण भट्टजी विष्णुस्वामी मत के अनुयायी थे। इस परंपरानुसार पुत्र को भी पूर्वावस्था में उस मत का अनुयायी माना गया होगा। पश्चात् आपने स्वतंत्र विचार प्रणाली की पद्धति से पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना की होगी। यहाँ हम इस चर्चा को अस्थानीय मानकर आपका संक्षिप्त परिचय ही देना चाहते हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्य का परिवार वैष्णवी दीक्षायुक्त, यजुर्वेदीय, तैतरीय शाखी भारद्वाज गोत्रीय था। तेलंग-ब्राह्मण ज्ञाति का यह कुटुंब वेलनाट अथवा वेल-नाडु नाम से प्रसिद्ध था। आन्ध्र देश के काकरवाड नामक नगर में यह कुटुंब रहता था किन्तु इस नगर के नाश होने के कारण श्रीलक्ष्मणभट्टजी ने अग्रहार में निवास किया, वहाँ विद्या नगर के राजा के पुरोहित सुशर्मा की कन्या यल्लमागारू से लग्न होने के बाद एक पुत्र और दो कन्याओं का उनके यहाँ जन्म हुआ। कुछ समय पश्चात् श्रीलक्ष्मणभट्ट सपत्नीक अपने शिष्य-साथियों के साथ काशी की यात्रा को चले। काशी में कुछ समय रहने के बाद मुस्लिम आक्रमण की अफवाह के कारण काशी से लौट चले। रास्ते में चोडा नगर के पास चम्पारण्य में शिवा (हरडे) के वृक्ष नीचे यल्लमागारू को संवत् १५३५ (ई.स. १४७९) में वैशाख (गुर्जर-चैत्र) कृष्ण एकादशी के दिन आठवें मास में प्रसव हुआ। इस बालक को मृत मानकर एक कपड़े में लपेटकर शमी वृक्ष के कोटर पर रख दिया। दूसरे दिन लौटते समय उस स्थल पर आश्चर्य के साथ देखा तो चारों ओर अग्नि की ज्वालाओं के बीच बालक किल्लोल कर रहा था। इस दृश्य को देखकर माता ने बालक को गोद में ले लिया; इसी कारण से श्रीवल्लभाचार्य जी अग्निअवतार या वैश्वानरावतार माने जाते हैं।

माता पिता ने इस चतुर्थ संतान का नामकरण वल्लभ किया। काशी पर आक्रमण की बात गलत होने के कारण उन्होंने पुनः काशी में निवास किया। पाँच वर्ष की वय में श्रीवल्लभ का उपनयन संस्कार होते ही विष्णुचित नामक गुरु से

अध्ययन का आरंभ कराया गया। पाँच-छ: वर्ष के समय में ही आपने वेद-वेदांत, षड्शास्त्र, गीता, भागवंतपुराण, पंचरात्र आदि भागवतधर्म के सभी ग्रन्थों में पारंगतता प्राप्त कर ली। विक्रम सं. १५४६ में पिता के निधन के बाद आपने प्रथम भारत-परिक्रमा का आरंभ किया। अत: १५४७ से १५५३ तक का प्रथम परिक्रमा का समय माना जाता है।†–†† द्वितीय परिक्रमा का समय वि. सं. १५५४ से १५५८ और तृतीय परिक्रमा का समय १५६१ से १५६४ तक का माना गया है।

प्रथम यात्रा में आप जगन्नाथपुरी पधारे तब वहाँ वैष्णव एवं शांकर मत के पंडितों में शास्त्रार्थ हो रहा था। उसमें भाग लेकर आपने वैष्णव मत का समर्थन किया और उसमें आप विजयी हुए। तदनंतर आपने निराकार—मायावाद के विरुद्ध साकार एवं विशुद्ध ब्रह्मवाद के स्थापन का निश्चय किया। अपनी माता को विद्यानगर स्थित पितृ-गृह में पहुँचा दिया और आप ब्रह्मवाद के व्यापक प्रचार के लिए उज्जैन होकर समस्त भारत की यात्रा के लिए चल दिये। द्वितीय परिक्रमा सम्पूर्ण होने के बाद वि. सं. १५५८ में आपने लग्न किया। इन दोनों यात्राओं में आपने निर्गुण भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खंडन और ब्रह्मवाद का प्रचार किया। श्रीवल्लभभाचार्यजी का दार्शनिक मत "शुद्धाद्वैत" है।

तीसरी यात्रा में आप दक्षिण के सुप्रसिद्ध हिन्दू नरेश महाराजा नृसिंह वर्मा के सेनापति राजा कृष्णदेवराय‡ द्वारा आयोजित विद्वत् सभा में पधारे; जहाँ एक ओर चतु: सम्प्रदाय के वैष्णव विद्वान् थे और दूसरी ओर शांकरमतानुयायी अद्वैतवादी एवं शैव-शाक्त विद्वानों में प्रबल- वाद-विवाद हो रहा था। मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और रामानुज सम्प्रदाय का वैष्णव पक्ष परास्त होने की स्थिति में था। तब श्रीवल्लभाचार्यजी ने वहाँ पधारकर वैष्णव पक्ष के समर्थन में प्रकांड पांडित्य दिखाया और परास्त होते वैष्णव-पक्ष को प्रबल कर दिया। फलत: अवैष्णवों की पराजय हुई। इस विजय के प्रभाव के कारण कृष्णदेव राजा ने उनका सत्कार-पूर्वक "कनकाभिषेक" किया। अन्य वैष्णवाचार्यों ने उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य घोषित करते हुए—"आचार्यचक्रचूड़ामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु" की उपाधि से सम्मानित किया। तभी से श्रीवल्लभाचार्य "श्री आचार्यजी महाप्रभुजी" के नाम से विख्यात होते रहे। आपने कनकाभिषेक की मुद्राओं में से केवल सात मुद्राएँ लेकर अन्य सभी मुद्राएँ ब्राह्मणों एवं विद्वानों में वितरित कर दीं।

आपकी यात्राओं का सम्प्रदाय के ग्रन्थों में "पृथ्वी-परिक्रमा" नाम से उल्लेख किया गया है। प्रथम परिक्रमा में ही आप सं. १५५० में सर्वप्रथम व्रज में

---

†–†† देखिए-आचार्य महाप्रभुजी की प्रागट्य वार्ता (लेखक—श्री द्वारकादास परीख) "विट्ठलेश चरितामृत" में सं. १५५० का समय लिखा है (पृ. ५८)

‡ विट्ठलेश चरितामृत पृष्ठ ८५

पधारे, और समस्त ब्रज का यात्रा का निश्चय किया। प्रथम गोकुल के ठकुरानी घाट पर श्रीमद्भागवत का सप्ताह पारायण किया। सं. १५५० में श्रावण शुक्ल ११ को भगवदाज्ञा हुई, और उसी समय से अपने शिष्यों को ब्रह्मसंबंध मंत्र की दीक्षा देना आरंभ किया। गोकुल से मथुरा, वृन्दावन और गोवर्धन में निवास किया और वहाँ पर भी श्रीमद्भागवत का पारायण किया गया। उस समय गोवर्धन की गिरिराज की पहाड़ी पर एक भगवद्स्वरूप का प्राकट्य हुआ था। वृजवासी उन्हें "देवदमन" नाम से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक पूजते थे।

दूसरी यात्रा में आप पुनः गोवर्धन पधारे तब सं. १९५६ में श्रीवल्लभाचार्यजी ने उस स्वरूप का नाम (श्रीनाथजी) श्री गोवर्धननाथ रखा। छोटा सा कच्चा मंदिर बनवा कर श्री गोवर्धननाथ को उसमें विराजमान कर दिया। उस समय सदूपांडे, रामदास चौहान, कुम्भनदास आदि ब्रजवासी आपके सेवक हुए। सदूपांडे और और रामदास को पूजादि भोग सामग्री की सेवा और कुंभनदासजी को कीर्तन संगीत की सेवा में नियत किया। इसी समय से पुष्टिमार्गीय संगीत का उद्भव हुआ। अतः हम अष्टछाप (हवेली संगीत) की परंपरा उद्गम काल ई. स. १५०० (संवत् १५५६) तक ले जा सकते हैं। उनके प्रथम उद्गाता श्री कुंभनदासजी हैं। श्रीमद् वल्लभाचार्य जी संगीत के भी ज्ञाता थे। अतः उन्होंने श्री कुंभनदासजी जैसे संगीतज्ञ को परख लिया और श्रीनाथजी को मधुरकंठ से संगीतबद्ध लीला गान द्वारा रिझाने के लिये उन्हें नियुक्त किया।

श्री वल्लभाचार्यजी का लग्न सं. १५५८ की आषाढ़ शुक्ला पंचमी को हुआ। तत्पश्चात् तीसरी भारत यात्रा में आप द्वारिका पधारे। वहाँ भगवद् आज्ञानुसार आपश्री ने "लाडवा" ग्राम जाकर पृथ्वी में विराजित श्री द्वारिकाधीश को प्रकट किया और द्वारिका में उस स्वरूप को वि. सं. १५६० में स्थापित किया।‡

तीसरी यात्रा के अवसर पर अम्बाला के पूरनमल खत्री ने श्री वल्लभाचार्य की स्वीकृति प्राप्त कर सं. १५५९ की वैशाख शु. ३ को श्रीनाथजी के विशाल मंदिर का निर्माणारंभ किया था। इसी मंदिर में श्रीनाथजी को पधराया और फलफूल की सेवार्थ गोवर्धन में बगीचे का निर्माण करा कर आप आगरा एवं प्रयाग होते हुए काशी पधारे तदनंतर आप विद्या नगर पधारे और राजा कृष्णदेव द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ सभा में विजयी होने के कारण श्रीवल्लभाचार्यजी का कनकाभिषेक किया गया और उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य घोषित करते हुए "आचार्यचक्र चूड़ामणि जगद्गुरू श्रीमदाचार्य महाप्रभु" की उपाधि से सम्मानित किया गया। यह प्रसंग (वि. सं. १५६५) ई. सं. १५०९ का है।

---

‡ देखिए:–१. *"द्वारकानो इतिहास" पृ. ३२० तथा*
२. *"निजवार्ता, बैठकचरितादि"*

पश्चात् आप काशी पधारे । वहाँ से अपनी धर्मपत्नी को लेकर व्रज की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में कन्नौज, आगरा, होकर गौघाट (आगरा मथुरा के मध्य में) आकर तीन दिन तक मुकाम किया। उसी समय भक्त-कविवर "सूरदास" जी को शरण लिया। पश्चात् गोकुल होकर आप (वि. सं. १५६७ में) गोवर्धन आये और सूरदासजी को कीर्तन की सेवा की आज्ञा दी।

सं. १५६७ भाद्र पद कृष्ण १२ को आपके प्रथम पुत्र श्री गोपीनाथजी का प्राकट्य हुआ। तदनंतर आपने पुनः ब्रजयात्रा की। उस समय (वि. सं. १५६८ में) कृष्णदास (अधिकारी) को शरण लिया।

तत्पश्चात् आप जब चरणाद्रि (चरणाट) पधारे तब वि. सं. १५७२ मागशीर्ष (व्रज पौष) कृष्ण ८ के दिन वहाँ द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलेश का प्राकट्य हुआ। पश्चात् आप गोकुल आये । फिर अडेल होकर काशी जाकर श्रीगोपीनाथ जी का यज्ञोपवीत किया। वहाँ से आप जगदीश पधारे । इस प्रवास में कजलीवन के पास "कृष्णचैतन्य महाप्रभु" से आपका मिलाप हुआ था। तत्पश्चात् बद्रिकाश्रम जाकर अडेल पधारते समय आप "कन्नौज" आये और महाकवि एवं गायक "परमानंददास" को (वि. सं. १५७७ में) शरण लिया। अनंतर आगरा होकर आप गोपालपुर पधारे।

वि. सं. १५८० में विट्ठलेश को काशी में यज्ञोपवीत देकर वहाँ से जगदीश होकर अडेल पधारे । सं. १५८२ में आपने गोपीवल्लभ (ग्वाल) भोग की शुरूआत की। सं. १५८५ में आपने पुनः द्वारका की यात्रा की। पश्चात् अड़ेल पधारे कुछ समय पश्चात् आप विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर काशी में रहने लगे। ४० दिन तक विप्रयोग दशा में अनशन करने के अनंतर सं. १५८७ की आषाढ़ शु. ३ को मध्याह्न समय काशी के हनुमान घाटपर गंगा की बीच धारा में आपने जलसमाधि प्राप्त की ।

आप उच्चकोटि के कवि और संगीतज्ञ भी थे। तैलंगी भाषा में आपके रचे हुए कुछ पद प्राप्त होते हैं। किन्तु व्रजभाषा और भारतीय काव्य-संगीत की उन्नति में भी श्रीवल्लभाचार्यजी का बहुत बड़ा योगदान है।

भारतीय संगीत की आज की परंपरा का उद्गम राज्याश्रय तथा देवाश्रय में हुआ है; किन्तु संगीत के विद्वानों का लक्ष्य राज्याश्रय की ओर ही दिखाई देता है। पं. भातखंडेजी इत्यादि पंडितों ने आधुनिक संगीत का उत्थान काल ग्वालियर के राजा मानसिंह तक ले जाकर राजा मान को इसका श्रेय दिया है। आईने अकबरी में भी कहा है कि राजा मानसिंह ने बक्षू, भानू और बैजू की सहायता से ध्रुपद शैली का प्रचार किया था। राजा मान का समय वि. सं. १५४३ से १५७५ (ई. सं. १४८६ से १५१८) तक का माना गया है।

किन्तु यह भूलना न चाहिए कि श्रीवल्लभाचार्यजी के देवालय (श्रीनाथजी का मंदिर) में संगीताचार्य कुंभन, सूर, परमानंद और कृष्णदास जैसे भक्त कविवरों

द्वारा आज की (ध्रुपद) द्रुपदशैली का अधिकांश उद्भव हुआ है। जिसका श्रेय श्री वल्लभाचार्यजी को दिया जाएगा । उपर्युक्त चारों संगीत-कीर्तनकार आपके ही सेवक थे। अपने आराध्यदेव श्रीनाथजी के सम्मुख संगीतमय कीर्तन--गान की सेवा में श्री वल्लभाचार्य ने ही उनकी नियुक्ति की थी। उन्हीं की सहस्रावधि ध्रुपद-धमारादि की रचनाओं का सम्प्रदाय में आज भी गान किया जाता है, यही नहीं सम्प्रदायेतर गायकों में भी ये प्रचलित हो चुकी हैं। इन चार संगीतज्ञों ने सं. १५५६ से १५७७-७८ तक श्रीजी के सम्मुख सैकड़ों ध्रुपद धमार विविध ऋतुओं के अनुसार रागों में गान किया, यह सर्व विदित तथ्य है।

ऐतिह्य दृष्टि से हम विचार करेंगे तो राजा मान का समय ई. सं. १४८६ से आरंभ होता है और ई. सं. १५१८ में पूर्ण होता है। दूसरी ओर श्रीजी के सम्मुख ई. स. १५०० से संगीतमय ध्रुपद-धमार का प्रारंभ होता है और राजा मान के पश्चात् भी उसका विकास और प्रचार होता है।

इस प्रकार भारतीय संगीत का उद्गम राज्यालय और देवालय (श्रीजी का मंदिर) दोनों में लगभग समान समय में होता है। अतः उपर्युक्त दोनों स्थान भारतीय ध्रुपद संगीत के उद्गम मानना चाहिए।

वि. सं. १५५६ में संगीताचार्य कुंभनदास श्री वल्लभाचार्यजी की शरण आये और उसी समय से श्रीजी की कीर्तन-संगीत की सेवा में नियुक्त किये। पश्चात् वि. सं. १५६७ में संगीताचार्य सूर और १५६८ में समर्थ गायक और विचक्षण अधिकारी कृष्णदासजी के शरण में जाते ही उन्हें भी श्रीनाथजी की कीर्तन-संगीत की सेवा में सम्मिलित किया गया। संगीतज्ञ परमानंदजी को भी वि. सं. १५७७ में शरण लिया। कुंभनदासजी को पखावज बजाने का भी पूर्ण ज्ञान था अतः सूर के साथ उत्सवादि प्रसंगों में से वे पखावज की सेवा भी करते थे। कृष्णदासजी भेंट एवं व्यवस्था के कार्यों में रत होने के कारण अनियमित रूप में उपस्थित होते रहते थे। अतः परमानंदजी के शरण आने के पश्चात् इन तीनों महानुभावों का ओसरा बंदी से कीर्तन की सेवा में उपस्थित रहने का उल्लेख इस प्रकार होता है:--"सो इन सूरदासजी ने श्रीनाथजी की सेवा बहोत करी। सो बीच-बीच . में जब कुंभनदासजी, परमानंदजी के कीर्तन के ओसरा आवते तब सूरदासजी श्रीगोकुल में श्री नवनीतप्रियाजी के दर्शन कूं आवते। (सूरदासजी की वार्ता प्रसंग-५)

कहा जाता है कि इस समय तक कृष्णदासजी ने वीणा (बीन) बजाने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और श्रीजी को जगाने के पूर्व और पौढ़ने के समयांतर में श्रीजी को वीणा-नाद सुनाने की सेवा स्थानिक उपस्थिति के समय अवश्य किया करते थे।

श्रीमद् वल्लभाचार्यजी के समय तंबूर, मृदंग, झांझ और वीणा, इन चार वाद्यों का कीर्तन सेवा में विनियोग हो चुका था। श्रीमद् भागवत महात्म्य में पद्म-

पुराण के आधार पर जो भगवद्-कीर्तन का विधान प्राप्त होता है उसी के लक्ष्यानुसार अपने यहाँ कीर्तनकार एवं वाद्यवादकों का श्रीजी के सम्मुख कीर्तन-गान में नियोजन किया।

श्रीमद्भागवत महात्म्य के षष्ठाध्याय में उल्लेख है कि भगवान् विष्णु के सन्मुख जब कीर्तन गान होने लगा तब शिव-पार्वती, ब्रह्मा-ब्रह्माणी भी कीर्तन सुनने के लिए सभा में उपस्थित हुए थे। उस समय प्रहलाद ताल तथा उद्धवजी "झांझ" बजाने लगे। नारदजी‡ वीणा और इन्द्र मृदंग बजाने लगे तथा अर्जुन मीठे कंठ से गान करने लगा। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य नृत्य करने लगे थे। इस अलौकिक कीर्तन भक्ति से भगवान् अति प्रसन्न हुए और वर मांगने को कहा। यह प्रसंग प्रसिद्ध है।

इस प्रकार श्रीमद् वल्लभाचार्यजी का उद्भव काल साहित्यिक, धार्मिक एवं संगीतात्मक भक्ति के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है। धार्मिक क्षेत्र की विचार धाराएँ प्रवर्तित करने में साहित्य और संगीत को माध्यम बना कर धार्मिक भावनाओं में मणिकांचन योग किया।

सामाजिक दृष्टि से देखा जाय तो भी आपश्री ने सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा एवं गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर बनाते हुए गृहस्थाश्रम में ही भक्ति-पथ के अनुगमन का उपदेश दिया। ब्राह्म वैराग्य और कठोर तपस्या के मार्ग से आपने जनता को हटाया। यदि गृहस्थ धर्म एवं भक्ति-पथ के उपदेश देकर जनता के लिए सरल पथ प्रदर्शन न किया होता तो अकर्मण्यता, निष्क्रियता और कुंठा से भारतीय संस्कृति की उच्च कलाओं का प्रवाह सुरक्षित न रहकर पतन की ओर चला जाता।

---

‡ "नारदीय वीणा" "तंबूर" को कहनेका व्यवहार है।

स्वामी हरिदासजी

पुष्टिमार्गीय अष्टछापादि संगीताचार्यों के अतिरिक्त भक्तिमार्ग की उत्कृष्ट पद-रचनायुक्त गान करने वालों में इनके समकालीन स्वामी हरिदाजी और "श्रीहित-हरिवंश" जी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । ये कवि एवं संगीतज्ञ ही नहीं किन्तु भक्तिमार्गीय नवीन सम्प्रदाय के सृष्टा भी थे ।

श्री हरिदास स्वामी का जन्म वि. सं. १५३७ (सन् १४८१) में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी (राधाष्टमी) को हुआ था । किन्तु एक अन्य (गोस्वामी) मतानुसार आपका जन्म वि. सं. १५६९ में माना जाता है । हमारे मतानुसार सं. १५६९ ठीक है । बाल्यावस्था से माता-पिता के भक्तिमय संस्कार एवं साधु संतों के समागम से प्रभाव से ये श्रीकृष्ण-भक्ति में वे तल्लीन रहते थे। २५ वर्ष की आयु में वृंदावन जाकर निधिवन के निकुंज में छोटी सी झोपड़ी बनाकर निवास करने लगे। भगवत्सेवा और भगवद्गुणगानरूपी अमूल्य धन के प्रताप से स्वामीजी के हृदय में छिपी हुई काव्य तथा संगीत-कला की अद्भुत शक्ति प्रगट होने लगी, इस शक्ति को प्रभुमय उपासना में जोड़कर अहर्निश श्री राधाकृष्ण की लीलाओं में ध्यान मग्न होकर सेवा के साथ संगीतमय पदगान से प्रभु को रिझाने लगे ।

इस प्रकार प्रभुमय जीवन बन जाने पर आपको श्रीकृष्ण की लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन होने लगे । इन लीलाओं का तादृश वर्णन करते हुए पदों को शास्त्रबद्ध राग-ताल में अपने इष्ट देव के संमुख गान करते हुए वे भाव विभोर हो जाते थे । कुछ समय में ही अपने इष्ट प्रभु 'कुंज बिहारी" की प्रत्यक्ष लीला का रसास्वाद इन्हें प्राप्त हो चुका था किन्तु भक्तिमार्ग की परमावस्था की प्राप्ति के लिए तथा अपने भक्तजनों के लिए भक्ति का रसास्वाद सहज और सुलभ बनाने के हेतु निधिवन (वृंदावन) मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी को बिहारीजी की दिव्य प्रतिमा का प्राकट्य हुआ । आज भी यात्री इन बिहारीजी के निधिवन में दर्शन करते हुए कृतार्थता का अनुभव करते हैं । श्री बिहारीजी के संमुख नित्यप्रति उपासनामय संगीत-गान का क्रम सेवा के साथ ओतप्रोत हो गया था । असाधारण संगीत के आकर्षण से भक्तजन आने लगे । कुछ समय में व्रजमंडल के बाहर भी उनके पद-गान की कीर्ति गायक वर्ग तक पहुँच गयी । राजा-महाराजा भी इस निकुंज के द्वार पर उपस्थित होकर स्वामीजी का संगीत सुनने लगे । निपुण गायक भी आने लगे और स्वामीजी का संगीत सुनकर मुग्ध होकर उनके शिष्य भी बनने लगे । इन शिष्यों में संगीत-सम्राट् तानसेन भी थे । इनका उल्लेख किशनगढ़ नरेश भक्त नागरीदासजी द्वार' रचित "पदप्रसंगमाला" (सं. १८००) में निम्न प्रकार से प्राप्त होता है–"एक समें

अकबर पातशाह तानसेन सों बूझी जु तैं कौनसो गाइबो सीख्यौ, कोऊ तोऊ तैं अधिक गावे है? तब वाने कही जु मैं कौन गिनती में हूँ । श्रीवृंदावन में हरिदासजी नाम के वैष्णव हैं, तिनको गाइबैको हों शिष्य हूँ । यह सुनि पातशाह तानसेन के संग जलघरी लै श्रीवृंदावन स्वामीजी पै आयौ । पहलैं तानसेन गायो । बिनती करी महाराज, कछु आपुहू बोलिये । तब श्रीहरिदासजी आलापचारी करी मलार राग की । चैत वैशाख को महिना हतौ । तब ताहिही बेर घटा घुमड़ि आई । मोर बोलनि लागे । तब नमो बनाइ विष्णपद गायौ । तब ताही बैर वर्षा होन लागी सो यह पद:—

ऐसी रितु सदा-सर्वदा जो रहे बोलत मोरनि ।।
नीके बादर नीके धनुष चहुँदिस नीको श्रीवृंदावन, आछो नीकी घोरनी ।।१।।
आछी भूमि हरी-हरी आछी नीकी बूंदन की रंगन काम करोनि ।।
हरिदास के स्वामी स्यामा के मिलि गावत मलार जम्योरी किसोर किसौरनि ।।२।।

अकबर हरिदास की भेंट का उल्लेख प्रथम नागरीदासजी कृत पद प्रसंग में और किशोरदासकृत 'निजमत सिद्धांत'' में प्राप्त होता है । तदुपरान्त "संगीतकलाधर" नामक (गुजराती) बृहद् ग्रन्थ में निम्न प्रकार लिखा हुआ मिलता है–"स्वामी हरिदासजी पुष्टिमार्गीय अने श्रीकृष्णना भक्त हता, अकबर शाहने तेमनी प्रशंसा सांभली गायन सांभलवानी घणीज उत्कंठा थई, स्वामीजी महात्मा अने निःस्पृही होवाथी पोताना इष्ट सिवाय अन्यने गायन संभलावता न हता, आ वात अकबर शाह सारी रीते जाणतो हतो, तेथी तानसेनने साथै लई पोते कठियारा नो वैण लई लाकडां बैचवाना निमित्ते हरिदासजी ना मकान मां जई चढ्यो । ते वखते स्वामीजी पोताना इष्ट सन्मुख सांझनो समय होवाथी राग कल्याण गाई रह्या हता । बादशाह अने तानसेन ते गायन सांभलतां अत्यंत प्रसन्न थई गया अने बेडना मुखथी रोकी न शकाय तेवो "वाह-वाह" शब्द हर्षथी नीकल्यो । ते सांभली स्वामीजीअे बहार आवीने जोयुं तो हंमेश आवनार कठियारो नहीं पण आ बेउने नवा जोई क्रोधित थया । बादशाह तेमनी मनोवृति जोइ विनयथी शांत करी कांई विशेष द्रव्य आपवानुं कहुं । स्वामीए द्रव्यना बदलामां ए माग्युं के तमो असुर छो माटे अहियां कोई दिवस पण तमारे आववुं नहीं । ते स्वामीनो गायेलौ राग जेने हाल यमन कल्याण कहे छे ते अद्यपि सुधी गवातो नथी ।"*

उपर्युक्त लेख में "स्वामी हरिदासजी पुष्टिमार्गीय भक्त थे" तथा "यमन-कल्याण" राग अभी तक गाया नहीं जाता ये दोनों विधान ग्रन्थ लेखक की साम्प्रदायिक अज्ञानता के सूचक हैं । "यमन-कल्याण" राग का सम्प्रदाय में निषेध नहीं है तथा स्वामीजी पुष्टिमार्गीय नहीं थे । किन्तु निम्बार्क सम्प्रदायांतर्गत सखी-

---

* *संगीत कलाधर, पृष्ठ ६१ (प्रकाशन सन् १९०१)*

सम्प्रदाय के स्थापक थे । सखी सम्प्रदाय का पुष्टि सम्प्रदाय से सीधा संबंध नहीं है। तथापि युगल स्वरूप की सेवा और आराधना दोनों में अभीष्ट है ।

निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत "द्वैताद्वैत" है । इसमें श्रीकृष्ण ही उपास्य, सेव्य और भजनीय माने गये हैं । श्रीकृष्ण के चरणारविंद के सिवाय अन्य कोई गति नहीं है ।* इस सिद्धांतानुसार श्रीकृष्णभक्ति के सिवा किसी की सेवा-पूजा करना व्यर्थ समझा जाता है । किन्तु श्रीकृष्ण के साथ राधाजी का महत्व भी इष्ट-देवी के स्वरूप में स्वीकृत है ।† श्रीराधा को स्वकीया रूप में माना जाता है । इस सम्प्रदाय में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य इन पांच रसों का श्री हरिराम व्यासाचार्य ने समर्थन किया है । जिनमें माधुर्य की उत्कृष्टता समझाते हुए "प्रेमलक्षणा" (अनुरागात्मिका-पराभक्ति) को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है । इस सम्प्रदाय के भक्तों ने हिंदी में रसमय वाणी (पदों) का गान किया है और माधुर्य भाव को परिपुष्ट बनाया है । इस माधुर्यभाव को पुष्ट बनाने में स्वामी हरिदासजी ने युगल स्वरूप की लीलाओं को जो प्राधान्य दिया है वह उल्लेखनीय है ।‡ हरिदासजी के पश्चात् उनके शिष्यों द्वारा टट्टी संस्थान नाम से वृंदावन में अपनी महंत गद्दी की स्थापना की गई थी, किन्तु आज कल इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को निम्बार्क मतानुयायी मानते हैं ।

स्वामी हरिदासजी ने प्रत्येक पद में अपने नाम के साथ उनके इष्ट प्रभु श्री कुंजबिहारी' की छाप लगाई हुई है । स्वामीजी के संगीतज्ञ आठ शिष्यों के नाम "नादविनोद" ग्रन्थ में इस प्रकार हैं ।" (१) बैजु (२) गोपाललाल, (३) मदनराय, (४) रामदास, (५) दिवाकर पंडित, (६) सोमनाथ पंडित, (७) तन्नामिश्र (तानसेन) और (८) राजा सौरसेन । इन शिष्यों में प्रथम चार दिल्ली गये, तथा सोमनाथ और राजा सौरसेन पंजाब की ओर चले गये । तानसेन रींवा दरबार में नियुक्त हुआ । स्वामीजी की सम्प्रदाय-विषयक शिष्य परंपरा में आठ शिष्य मुख्य थे । जो "हरिदासी अष्टाचार्यों" के नाम से प्रसिद्ध हैं– (१) श्री विट्ठल विपुल, (२) श्री बिहारी दास, (३) श्री नागरीदास, (४) सरसदास, (५) श्री नरहरिदास,

---

* *नान्या गति : कृष्णपदारविन्दात् ।*

† *अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।*
सखी सहस्त्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ः।
(दशश्लोकी-श्लोक-५)

‡ *जुगल नाम सों नेम जवत नित कुँज बिहारी,*
अवलोकत रहे केलि, सखी सुख को अधिकारी
(भक्तमाल, नाभाजीकृत)

(६) श्री रसिकदास, (७) श्री ललित किशोरीदास तथा (८) श्री ललित मोहिनीदास ।

स्वामी हरिदासजी की रचनाएँ सिद्धांत के पद और केलिमाल के नाम से उपलब्ध है। सैद्धांतिक पदों में सिद्धांत हैं जिनमें कोई विशेष दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना नहीं है, किन्तु ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिमय कथन है। केलिमाल के पदों में श्याम-श्याम (कुंजबिहारी) की विहार-लीलाओं का वर्णन है। स्वामीजी की वाणी द्वादश रागों में हैं । जो निम्न प्रकार हैः–(१) विभास, (२) बिलावल, (३) आसावरी, (४) सारंग (५) वसंत, (६) गौड, (७) मल्हार, (८) खट, (९) नट, (१०) कल्याण, (११) केदारो और (१२) कानरा। इन रागों में लगभग १३० पद प्राप्त होते हैं। स्वामीजी की शिष्य परंपरा के अष्टाचार्यों ने भी अपनी वाणी इन द्वादश रागों में ही प्रस्तुत की है।*

स्वामीजी-रचित बहुत से पदों का पुष्टिमार्गीय संगीत प्रणाली में समावेश हुआ है । जैसे (१) केदार राग में गाये हुए 'सुनि धुनि मुरली बन बाजे हरि रास रच्यो' तथा (२) "सरद उजियारी कैसी नीकी लागे" यह पद उसी राग में रासोत्सव के दिन गाया जाता है। तथा राग-कल्याण का "डोल झूलत बिहारी बिहारिनि राग रमि रह्यो" डोलोत्सव के दिनों में शयन समय एवं "डोल झूलत बिहारी बिहारिनि पुहुपवृष्टि होति" यह उनके मूल राग-सारंग में ही होरी-डोल के दिनों में राजभोग आरती के समय गाने की खास प्रणाली है। तुदुपरान्त नित्यक्रम की वाणी में भी "उष्णकाल की ऋतु में शयन के दर्शन में "चलो क्यों न देखेंरी खरे दोऊ कुंजन की परछांही " तथा "कुंजमहल के आँगन डोलें दोऊ बांह जोटी" और शयनांतर मानका पद "मानिनी मान निहोरे"† ये तीनों कुंज के भावात्मक पद गाये जाते हैं।

स्वामी हरिदासजी रचित एक "राग-माला" जो आज तक अप्रचलित है; जिनमें भावानुकूल काव्य और काव्यानुकूल राग प्रत्येक पंक्ति में संचलित होता है। उच्चतर कवि और प्रकांड संगीतकार के बिना इस प्रकार की राग-माला की रचना होना दुर्लभ है । यह रागमाला निम्न प्रकार प्राप्त हुई है।––

भोरऽब भयो जागे जाम लाल हो अब
रामकली उदे भयो भान ।।

** देखिए–स्वामी हरिदास–प्रकाशक संस्थान, मथुरा.,*

† ये पद "स्वामी हरिदास की वाणी" मथुरा प्रकाशन में संदिग्ध बताये गए हैं किन्तु पुष्टि मार्ग के ग्रन्थों एवं परंपरा के आधार से स्पष्ट होता है कि ये असंदिग्ध हैं।

गुन की कली गुन पूरन प्यारी
कहा अब होत **देवगान** ।।ध्रु.।।

भयो **बिभास** आभास सब देखियत,
चलि जाऊं **तोरी** सुनिले री कान ।।

आसानकरि तू अपने प्रीतमकी,
सोरठ समुझि ले मन ही मन जान ।।

सारंग नाम जाको ताके पास जाय आली,
सो **नट** भयो कहा करे अभिमान ।।

चितवत चित **पूरब**-मुख बैठी,
मधुमाघ मद भयो तौकूं आनि ।।

ये क्रोध भयो **गौरी**, कौन गुनत तें,
ई मन कहा करों कहा कहौं बानि ।।

कैदारुन दुःख मिट गयो,
कान्हर तैरो जीवन प्रान ।।

रैन **बिहाय** गई प्यारी पिय पास गई,
मदनमोहन पिय अतिही सुजान ।।

चलत हिंडौल सोभा लसत
अंकमाल बन ठन गहि पानि ।।

हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी,
ललित चरन चित धरूं ध्यान ।।

उपर्युक्त रागमाला में क्रमशः (१) भैरव, (२) रामकली, (३) गुनकली, (४) देवगंधार, (५) बिभास, (६) तोड़ी, (७) आसावरी, (८) सोरठ, (९) सारंग, (१०) नट, (११) पूरवी, (१२) मघमाघ, (१३) गौरी, (१४) ईमन, (१५) केदार, (१६) कानरो, (१७) बिहाग, (१८) हिंडोल, (१९) मालव, (२०) ललित, गाये जाते हैं।

पुष्टिमार्ग में उपर्युक्त रागमाला तथा इस प्रकार की अन्य राग मालाएं प्रभु के सन्मुख गाई जाती हैं। इनका तृतीय गृह की कीर्तन प्रणालिका में स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अन्य राग-मालाओं में दो अष्टछाप के नंददासजी की, एक व्रजाधीशजी की और एक श्रीद्वारकेशजी की रचना है। ये रागमालाएँ संबंधित महानुभावों के परिचय में पूर्ण रूप से दी गई हैं।

स्वामी हरिदासजी का जन्म शिष्य-परंपरा के अनुसार सं. १५३७, वृंदावन-आगमन सं. १५६२, बिहारीजी की प्राकट्य-तिथि सं. १५६७ और निकुंजगमन सं. १६३२ का कहा गया है किन्तु इनकी गोस्वामी परंपरा में जन्म-१५६९, वृन्दावन आगमन १५९४, बिहारीजी का प्राकट्य सं. १६०० और निधन-काल सं. १६६४ का माना गया है।

वृन्दावन में स्वामीजी के सम्प्रदाय से सम्बन्धित मुख्य पाँच स्थान हैं–

१ श्री बांकेबिहारीजी का मन्दिर, जिनमें गोस्वामी सेवा-पूजा करते हैं।

२. गोरेलालजी का मन्दिर –जिसमें स्वामीजी के शिष्यपरंपरा के नरहरि स्वामी के सेव्य ठाकुर विराजमान हैं।

३. रसिकबिहारीजी का मन्दिर--इनमें रसिकदेवजी सेव्य ठाकुर हैं।

४. टट्टी स्थान–जिसकी स्थापना स्वामी ललित मोहनदेवजी ने की है।

५. निधिवन–जहाँ स्वामी हरिदासजी की तथा उनके कतिपय शिष्यों की समाधियाँ हैं ।

वर्तमान समय में टट्टी–स्थान का बड़ा महत्व है । जहाँ विरक्त साधु बड़ी संख्या में निवास करते हैं। उत्सव-त्यौहार एवं जन्म जयन्तियों पर यहाँ समाज एकत्र होता है। समाज में स्वामीजी के तथा उनकी परंपरा के महानुभावों के पद (कीर्तन) गाये जाते हैं। स्वामीजी की जयन्ति पर कई दिनों तक समाज एकत्र होता है; जिसमें विरक्त साधुगण अपनी परस्परागत परिपाटी के पद-द्रुपद गाते हैं। इनकी परंपरागत गायकी से कोई असाधारण प्रतिभा प्राप्त नहीं होती । साधना और परिपाटी के अभ्यास से उस परम्परा को अक्षुण्ण अवश्य बनाए हुए हैं। इस प्रकार स्वामीजी के सम्प्रदाय में भी पद-गायन को उपासना का अंग माना जाता है। परन्तु स्वामी हरिदासजी की विशुद्ध गायकी का स्वरूप क्या था? यह जानने का आज कोई प्रामाणिक साधन नहीं है। इनके समाज में आज द्रुपद जिस प्रकार गाये जाते हैं वही स्वामीजी की गायकी होगी, यह कहना ठीक न होगा। संभव है स्वामीजी की गायकी के कुछ अंश विद्यमान हों। वर्तमान द्रुपदियों के घराने से ही नहीं किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय की अष्टछाप परंपरा की गायकी के द्रुपदों से तथा हरिवंशजी की परंपरा से भी वह भिन्न ज्ञात होती है। द्रुपद की जो चार वाणियाँ मानी जाती हैं, उनमें कुछ लोग डागुर वाणी के प्रवर्तक हरिदास स्वामी को बताते हैं। किन्तु ये हरिदास अन्य व्यक्ति थे; जिनका विवरण इसी प्रकरण में किया जायगा।

स्वामी हरिदास की शिष्य परंपरा

विट्ठल विपुनजी

स्वामीजी की शिष्य परंपरा के अष्टाचार्यों में एवं स्वामीजी के भक्तों में श्री विट्ठल विपुनजी अधिक योग्य शिष्य थे। 'हरिदासी' सम्प्रदाय में विपुनजी प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने भी श्यामा-कुंजबिहारी के केलि-रस की लीलाओं की सुन्दर पद रचनाएं की हैं। आपने संगीत का ज्ञान भी स्वामीजी से प्राप्त किया था, ऐसा लगता है।

स्वामी हरिदास के अनुसार आपने भी द्वादश रागों में ही गान किया है। आपके ४० गेय पद प्राप्त होते हैं। इन पदों में स्वामीजी की छाया स्पष्ट दिखाई देती है।

पुष्टि-सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों में 'श्री विट्ठल विपिन" छाप के कुछ पद दृष्टिगत होते हैं, जिन्हें हवेली संगीत में स्थान दिया गया है। उदाहरणरूप कुछ पद यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) "आवत कुंजन तें पियप्यारी" नित्य-पद संग्रह में समावेश किया हुआ कुंज की भावना का यह पद उष्णकाल में मंगला के दर्शन में गाया जाता है।

(२) "आवत लाल लाडिली फूले" यह पद भी मंगला के समय हिन्डोला (झूला) के दिनों में प्रायः गाया जाता है।

श्री विट्ठल विपुनजी के पश्चात् उनके शिष्य श्री बिहारीदास उत्तराधिकारी (सं. १५६१ से १६५९) थे उन्होंने भी गेय पदों की रचना की है।

तत्पश्चात् क्रमशः नागरीदास, सरसदास, नरहरिदास तथा रसिकदास (सं १६९२ से १७५८) उत्तराधिकारी हुए। रसिकदासजी का बनवाया हुआ "रसिक-बिहारजी" का मन्दिर वृन्दावन में विद्यमान है।

रसिकदास के पश्चात् ललितकिशोरीदास उनके उत्तराधिकारी बनाये गये थे। उनके समय में हरिदास सम्प्रदाय के विरक्त सन्तों और गोस्वामियों में परस्पर झगड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप श्री ललितकिशोरीजी को निधिवन से हटकर यमुना किनारे जाना पड़ा था। वह स्थान खुला हुआ अरक्षित होने के कारण चारों ओर बांस की टट्टियों से घेर दिया। उस घेरे में भक्तगण भजन, ध्यान, सेवा-पूजादि उत्सव करने लगे। कालान्तर में वह स्थान 'टट्टी संस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो वृन्दावन हरिदासी सम्प्रदाय का प्रधान-केन्द्र बन गया। ललितकिशोरीजी की वाणी बिहारिनदास के बाद के आचार्यों में सबसे अधिक प्रमाण में उपलब्ध होती है। गेय पद की रचना की अपेक्षा सोरठा, चौपाई, दोहा, छंदादि

का प्रमाण अधिक है। हरिदासी सम्प्रदाय में इनकी गेय वाणी का गान किया जाता है। उनका समय सं. १७३३ से १८२३ तक का माना जाता है।

तदुपरान्त ललितमोहिनीदास, किशोरीदास, कृष्णदास, नवलसखी, रूपसखी आदि ने १९ वीं शताब्दी तक पद रचनाएं कीं।

हरिदास–डागुर

कुछ संगीतज्ञों का मत है कि स्वामी हरिदास स्वामी और हरिदास डागुर दोनों व्यक्ति एक हैं। परन्तु यह मान्यता विवादास्पद है। हरिदास स्वामी की रचना में हरिदास के साथ 'स्वामी स्यामा कुंजबिहारी' की छाप अवश्य दिखाई देती है। उन्होंने अपने उपास्य श्यामा और कुंजबिहारी की लीलाओं का ही अधिकतर वर्णन किया है। वहाँ हरिदास डागुर की रचनाओं में नादगढ़ के विचित्र रूपक, विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति, और साधारण नायिकाओं का कथन मिलता है। दोनों की रचना शैली भी भिन्न प्रकार की है। अतः हरिदास डागुर को स्वामी हरिदास का परवर्ती मानना चाहिए।

"बाबा हरिदास (डागुर) की परंपरा में स्वामी ब्रह्मानंद, बाबा ब्रह्मानंद, बाबा सत्यदेव और बाबा गोपालदास हुए। बाबा गोपालदास का पुत्र मुसलमान बना दिया गया, जो बाद में "बैरमखां" के नाम से विख्यात गायक हुआ। उनके पुत्र महम्मदखां के पुत्र जाकिरुद्दीनखां और अलाबंदेखां थे।[*]

"आज कल द्रुपद की चार वाणियों में 'डागर' वाणी के आदि प्रवर्तक स्वामी हरिदासजी बताये जाते हैं। कुछ लोग इसी नाम का आधार लेकर स्वामीजी से अपना पारिवारिक या परम्परा का सम्बन्ध भी बताते हैं। परन्तु ये बातें भ्रमात्मक हैं।[†]

स्वामी हरिदासजी की पत्नी अल्पायु में ही परलोक गमन कर गयी थी। वे आजन्म ब्रह्मचारी एवं विरक्त ही रहे। इनकी शिष्य परम्परा भी विरक्त है। अतः इन चारों वाणियों का अलग-अलग घराने में कई वर्षों पश्चात् विकसित होना संभवित है। 'संगीत' के हरिदास अंक[‡] में निगमजी ने जो द्रुपद उद्धृत किया है उसमें कुछ विख्यात संगीतज्ञों के नाम कालक्रमानुसार आते हैं। इस द्रुपद की संचारी और आभोग के शब्द इस प्रकार हैं—

भगवंत सुर भरन रामदास जसु पायो, तानसेन जगत गुरु कहायो घोंघू बानी रसाल।
सुरति विलास हरिदास डागुर, जगन्नाथ कविराय तिनके पग परसिबेको श्याम राम रंग लाल ॥२॥

---

[*] *साप्ताहिक हिन्दुस्तान २२ सितम्बर प्रकाशित (श्री शिवहरित का लेख)*

[†] *'संगीत' फरवरी अंक १९५९ (श्री गोपालदत्त का लेख)*

[‡] *संगीत फरवरी (१९५९) अंक (श्री निगमजी का लेख)*

प्रस्तुत द्रुपद में हरिदास डागुर का नाम तानसेन से ही नहीं घोंघू तक के पश्चात् आता है। इस द्रुपद के आधार पर यह सिद्ध होता है कि हरिदास डागुर, जगन्नाथ कविराय की प्रौढ़ावस्था में विद्यमान थे अतः हरिदास स्वामी की अपेक्षा परवर्ती हैं। इस प्रकार हरिदास डागुर का हरिदास स्वामी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

वे अच्छे संगीतज्ञ थे, इसमें कोई संदेह नहीं है। उनकी परंपरा ने संगीत की द्रुपद-शैली का हित किया है अतः हमारे लिए आदरणीय हैं। परन्तु वे संगीतजीवी प्रतीत होते हैं। अतः स्वामीजी के व्यक्तित्व के साथ उन्हें एकरूप नहीं किया जाना चाहिए।

गोस्वामी श्री हितहरिवंशजी

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंशजी का जन्म सं. १५५९ वैशाख सुदी ११ को व्रजमंडल के "बाद" ग्राम में हुआ था। आपके माता पिता ब्रजभूमि की यात्रा करते हुए जब मथुरा निकट 'बाद' ग्राम में पहुँचे। उस समय ताराजनी के गर्भ से सौन्दर्य युक्त बालक का जन्म हुआ। उसका नाम हरिवंश रखा गया। छः माह के पश्चात् व्यास मिश्र अपनी पत्नी और नवजात शिशु सहित अपने ग्राम देववन वापस गये। पुत्रोत्पत्ति के बाद व्यास मिश्र सेवा पूजा में ही लीन रहने लगे। कहा जाता है कि पांच वर्ष की अल्पायु में "ज्ञानचक्षुओं" के बल से एक रात्रि को स्वप्न मैं आपको प्रियाजी की ओर से प्रेरणा हुई कि देववन के घर के बाग के कूप में श्री रंगीलालजी का विग्रह विराजमान है। उसे प्रकट करके भक्ति-भाव प्रस्तुत करो। फलतः विग्रह को बाहर निकाल कर आपने घर के मन्दिर में प्रतिष्ठित किया।

तदुपरान्त छोटी वय में ही इष्ट देवी राधा के 'निज मंत्र' (द्वादशाक्षर दीक्षा मंत्र) को श्री राधा की प्रेरणा से पीपल के वृक्ष के अरुण वर्ण के पत्ते पर अंकित देखकर वृक्ष पर चढ़ कर मंत्र लिखे हुए पत्ते को ले आये। इसी मंत्र को दीक्षा मंत्र रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार की चमत्कारिक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। पीपल के पत्ते पर अंकित दीक्षा-मंत्र के संकेत के आधार पर श्री हरिवंशजी ने गुरु रूप में श्री राधाजी को ही स्वीकार किया है। आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार और सोलह वर्ष की आयु में आपका रुक्मणी देवी से विवाह सम्पन्न हुआ। आप की संतति में तीन पुत्र और एक पुत्री थी।

माता-पिता के निकुंज गमन के बाद किसी प्रेरणा से आप ब्रज भूमि की ओर निकल पड़े। यात्रा-पथ में 'चिरथावल' गाँव में पूर्व-दृष्ट स्वप्न में श्रीराधाजी

की हुई आज्ञा के अनुसार आपने आत्मदेव ब्राह्मण की कृष्णदासी और मनोहरदासी नामक दो कन्याओं का पाणिग्रहण किया। पश्चात् सं. १५९० में फाल्गुन की एकादशी को आप वृन्दावन पहुँचे और वृन्दावन वास करने का ही निश्चय किया। वहाँ 'सेवाकुंज' नामक स्थल में श्रीराधावल्लभजी के विग्रह की सं. १५९१ में प्रतिष्ठा की और पाटोत्सव मनाया गया । इस विग्रह को आधी शताब्दी के बाद दिल्ली वाले खजांची सुन्दरदास कायस्थ ने बनवाया । इस लाल पत्थर के मंदिर में विग्रह सं. १६४१ में पधराया । वे इस मंदिर में १७२६ तक विराजमान रहे। बाद में औरंगजेब के आक्रमण के कारण विग्रह को कामवन ले गये। वहाँ से ११५ वर्ष के पश्चात् पुनः सं. १८४२ में श्रीजी का पदार्पण हुआ और वहाँ एक नवीन मन्दिर का निर्माण कराया गया, जिसमें अद्यावधि श्री राधावल्लभजी की मूर्ति विराजमान है ।

सेवा कुंज में मूर्ति स्थापित होने के बाद श्री राधावल्लभजी की अष्टयाम सेवा का श्री हरिवंशरायजी ने प्रचार किया। श्रीजी की सेवा में 'व्याहुला' प्रथा का प्रवर्तन तथा रासलीला की स्थापना का श्रेय भी श्री हितहरिवंशजी को दिया जाता है। रास विषयक विवेचन 'रासलीला' प्रकरण में किया जायगा। तदुपरान्त सेवाविधि में खिचड़ी की प्रथा का भी आपने प्रचलन किया। राधावल्लभ सम्प्रदाय में खिचड़ी उत्सव अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह उत्सव पौष मास में श्री राधावल्लभजी को विभिन्न रूप की वेशभूषा पहनाकर प्रस्तुत किया जाता है।

कहा जाता है कि हितहरिवंशजी प्रथम मध्व और पश्चात् निम्बार्क मत की श्रीकृष्ण भक्ति का अनुसरण करने लगे थे । कर्मज्ञानादि अन्य साधनोपासना का खंडन कर प्रेमभक्ति मार्ग का उपदेश दिया और राधा कृष्ण दोनों की युगल सेवा-उपासना भक्ति का प्रचार किया। इसकी माध्व या गौडीय सम्प्रदाय से कोई खास समानता नहीं है । दोनों सम्प्रदायों में इष्टदेव एवं सेवा-पूजा में भिन्नता है। एकादशी व्रत आदि विधि-विधान का पालन इस सम्प्रदाय में नहीं है। द्वैताद्वैत सिद्धान्त की स्थापना करते समय निम्बार्काचार्य का दृष्टिकोण स्पष्ट था। परवर्ती उपासकों में इस सिद्धान्त को व्यवहृत बनाने के लिए राधा-कृष्ण की उपासना तथा किशोर कृष्ण का अवतरण करके उसको नवीन रूप दे कर एक मात्र राधा को ही इष्ट और उपास्य माना जाने लगा।

आप के दो प्रमुख ग्रन्थ हैं। 'राधा-सुधा-निधि'' ग्रन्थ संस्कृत में राधा-स्तुति विषयक है, और दूसरी प्रसिद्ध रचना 'हित-चौरासी' है। चौरासी पदों के इस संग्रह संगीतबद्ध रागों में राधामूलक सेवा-भावना को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। इन गेय पदों का रचना-काल निर्धारित करना कठिन है किन्तु हमारी दृष्टि